श्रीसद्गुरु पदारविन्दाभ्यां नमः ॥

अथ

श्री सिद्धान्त-सारामृत

लेखक तथा प्रकाशक

अनन्तानन्त श्रीविभूषित देशि केन्द्र सद्बोध प्रवर्तक

पूज्यपाद श्री प्रह्लाद साहेब,

पादपूजक—शिष्य महन्त श्री शिवबन्धन दास जी साहेब

जि० आरा।

पुस्तक मिलने का पता

[illegible] कबीर धर्म स्थान खरसिया,

[illegible]खरसिया, जि० विलासपुर।

[illegible] कबीर मंदिर 'तेलारी',

[illegible]लारी, जि० आरा (विहार)

प्रथम संस्करण	श्री कबीर प्राकट्य	वि. सं. २०१३
	सं० ५५८	सन् १९५६
प्रति १०००	अन्तर्धान सं ४३८	मूल्य १)

गीताधर्म प्रेस मिश्रपोखरा, बनारस।

सद्गुरु पदारविन्दाभ्यां नमः ॥

अथ

श्री सिद्धान्त-सारामृत

लेखक तथा प्रकाशक

अनन्तानन्त श्रीविभूषित देशि केन्द्र सद्बोध प्रवर्तक

पूज्यपाद श्री प्रह्लाद साहेब,

पादपूजक-शिष्य महन्त श्री शिवबन्धन दास जी साहेब

जि० आरा।

पुस्तक मिलने का पता

१. कबीर धर्म्म स्थान खरसिया,
पो० खरसिया, जि० विलासपुर।

२. श्री कबीर मंदिर 'तेलारी',
पो० तेलारी, जि० आरा (बिहार)

प्रथम संस्करण
प्रति १०००

श्री कबीर प्राकट्य
सं० ५५८
अन्तर्धान सं० ४३८

वि. सं. २०१३
सन् १९५६
मूल्य १)

प्रकाशक—
महन्त श्री शिवबन्धन दास जी साहेब,
श्री कबीर मन्दिर तेलारी,
पो० तेलारी, जि० आरा।

मुद्रक—
के० कृ० पावगी,
हितचिन्तक प्रेस,
रामघाट, वाराणसी-१

समर्पण-पत्र

दोवे छन्द।

हे सद्‌गुरु ! यह वस्तु आपकी, लीजे प्रभु ! अपनाई।
क्षमा करिय अपराध कृपामय ! शिशुता चूक-विहाई ॥
नहिं कछु कियो न करन योग्य हूं, आप कियो सब नाथा।
बहत देखि भव-अगम धार में, ग्रहण कियो मम हाथा ॥

प्रिय पाठक महाशयो ! उन सर्वदा स्मरणीय करुणा वरुणालय परमाराध्य देवाधिदेव श्री सद्‌गुरु कबीर साहेब के मङ्गलप्रद चरणारविन्दों में अनन्तानन्तशः अभिवादन है, कि, जिनकी पुष्कलानुकम्पा से मुझे आज चिरसंकलिपत इस "सिद्धान्त सारामृत" नामक विनय पत्र को आप सब सज्जनों के कर कमलों में "समर्पण" करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ, यदि आप सब सज्जन वृन्द इसको अपनायेंगे तो मेरा परिश्रम सफल होगा और मैं कृतकृत्य होऊँगा ॥

आप सब सज्जनों का कृपा पात्र

"शिवबन्धन"

नमः सत्यनाम्ने

भूमिका

दो०—जिनके कृपा कटाक्ष से, दर्शत स्वतः स्वरूप।
शुद्ध सदसद् के परे, अकथ अलक्ष्य अनूप ॥ १॥
सो सद्गुरु त्रयकाल में, सर्वोपरि सब मान।
वन्दनीय वन्दौं तिन्हें, श्वाँस प्रश्वाँस सध्यान ॥ २॥

ह० छं०—महिमा अखण्ड अनन्त अद्भुत, सद्गुरु की को कहै? जिनके सरोरुह चरण की रज, शमन दुखदारुण दहै॥ कालतिहुँ त्रयलोक पावनि, करनि-मोक्ष प्रदानि है। दारुण अविद्या भ्रान्ति हनि, सब सद् गुणों की खानि है॥ १॥

देवदुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर मनुष्य मात्र को इस परिवर्तनशील माया-मय कराल संसार समुद्र से परित्राण पाने के लिये सदा अध्यवसाय के साथ तत्पर होना चाहिये। यही मनुष्य शरीर की विशेषता है। कि, पाशविक प्रकृतियों पर विजय प्राप्त कर कर्म बन्धनों से विमुक्त होना ही वास्तविक मनुष्यता है, यही पुरुषत्व-पुरुषार्थ है। इसी कारण इस शरीर को परम-पद भी कहा गया है॥ "पाय-परम-पद हाथ सो जात, गयी सो गयी अब राख रही को" (सुन्दर विलास)
"नर समान नहिं कवनहुँ देही। जीव चराचर याचत जेही॥"
(रामायण उ०)

(श्लो०—इदं शरीरं परमार्थ साधनं धर्मैक हेतुं बहुपुण्य लब्धम्। लब्ध्वाऽपियोनो विदधीत धर्मं, सुधा भवेत्तस्य नरस्य जीवितम् ॥ १॥)

टी०—बहुत पुण्यों से प्राप्त होने वाले, इकमात्र धर्म का हेतु, मोक्ष का

साधन रूप इस शरीर को प्राप्त होकर भी जो मनुष्य अपने धर्म का विधान (स्वधर्माचरण) नहीं करता है, उस मनुष्य का जीवन व्यर्थ है ॥ १ ॥

श्लो०—दृढं विशालं गुरुपोतमुच्चकै राश्रित्य तृष्णाम्बु मनङ्ग नक्रम्। तरेद हो संसृति सागरं नयोमुधा भवेत्तस्य नरस्य जीवितम् ॥ २ ॥ (मदन मुख चपेटिका ८।११)

टी०—श्रेष्ठ गुरुरूपी दृढ़ वड़ जहाज का अच्छी प्रकार आश्रय करके, जिसमें तृष्णारूपी जल है और कामदेवरूपी मकर (मंगर) है ऐसे घोर संसार-समुद्र को जो मनुष्य उतरकर पार नहीं होता, उस मनुष्य का जीवन व्यर्थ है ॥ २ ॥

"जातोहि को यस्य पुनर्नजन्म, को वा मृतो यस्य पुनर्न-मृत्युः ॥" (प्रश्नोत्तरी १८) अर्थ—प्र० संसार में कौन उत्पन्न हुआ है ? उ० जिसका पुनर्जन्म न हो ॥ अर्थात् संसार बन्धन को निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति ही मनुष्य जन्म का प्रमुख्य फल है ॥

चौ०—बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुरदुर्लभ सद्ग्रंथन गावा ॥ १ ॥ साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जे परलोक सँवारा ॥ २ ॥

दो०—सो परत्र दुःख पावई, शिर धुनि-धुनि पछिताइ।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ ॥ १ ॥
जो न तरै भवसागरहिं, नर समाज अस पाइ।
सोकृत निंदक मन्दमति, आतमहन गति जाइ ॥ २ ॥
(रामायण उ० ६५।६६)

सा०—चौरासी लच्छ भ्रमिके पव पर अँटकी आइ। अब की पासा न परे, (तो) फिर चौरासी जाइ ॥ १ ॥ (सा० ग्रं०)

दो०—मानुष मानुष सब कहे, मानुष विरला कोय।
मन माया मर्दन करे, मानुष लक्षण सोय ॥ १ ॥

उपर्युक्त प्रमाणों से निश्चय सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि, जो

संसार बन्धन से विमोक्ष होता है, वही मनुष्य है। और मोक्ष पाने का अधिकार केवल मनुष्य शरीरधारी ही का है अन्य का नहीं, इसी कारण इस शरीर की अत्यन्त दुर्लभता वर्णन की गई है। जैसे परब्रह्म परमात्मा स्वस्वरूप की विस्मृति से जीवात्मा हो अनन्तानन्त शरीर धर कर संसारचक्र में भ्रमण करता है। वैसे ही मानव शरीर पाकर निज शुद्ध स्वरूप की स्मृति कर इस संसार बन्धन से निवृत्त (विमोक्ष) भी होता है। इसी कारण मोक्ष का (द्वार) कहा गया है॥ "साधन धाम मोक्ष कर द्वारा" ॥

श्लो०—स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत् फल मश्नुते। स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥ १ ॥ (ईस्वर गीता अ० २।६)

टी०—जीव आप ही कर्म करता है और उसका फल भी आप हीं भोगता है। आप ही संसार में भ्रमता है और आप ही उससे मुक्त भी होता है ॥ १ ॥

दो०—देनहार संसार में, दुख सुख का नहिं कोय।
कर्मन के अनुसार ही, बुरो भलो सब होय ॥
(सदुपदेशमणि माला)

चौ०—कोउ नहीं दुख सुख कर दाता। निजकृत कर्म भोग फल भ्राता ॥ (रामायण अ०)

इसलिये निश्चय होता है कि, स्वयं संसार में भ्रमता है और आप ही इससे मुक्त भी होता है। इससे मुक्ति का अधिकारी मनुष्य ही है ॥

मोक्ष होने के लिये महात्माओं द्वारा अनन्तानन्त उपाय और मार्ग प्रदर्शित किये-गये हैं। सर्वसिद्धान्तों का मूल-प्रवर्तक और प्रदर्शक "सद्‌गुरु" देव ही हैं। इस संसार में जितने मत पथ के आविर्भाव हुए हैं, सब का प्रचारक सद्‌गुरु देव हैं।

इसलिये सद्गुरु देव के चरणारविन्द पर आत्मनिवेदन (स्वात्म समर्पण) परमावश्यक है, सद्गुरु की आराधना करने के पश्चात् अपर की आराधना करने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती है। यही सद्गुरु की विशेषता है कि, आप प्रतिज्ञा पूर्वक यह कहते हैं कि, "मैं जिसको शब्द का बाण मारता हूँ वह सांसारिक कार्य के लिये मृतक हो जाता है॥ यथाः—

सा०—सद्गुरु मारा तान करि, शब्द सुरंगी बान।
मेरा मारा फिर जिये, (तो) हाथ न गहौं कमान॥ १॥
सतगुरु मारा बान भरि, टूटि गई सब जेब।
कहुँ आपा कहुँ आपदा, तसबी कहूँ कितेब॥ २॥

इसलियेः—

सा०—सतगुरु सम कोई नहीं, सात द्वीप नव खण्ड।
तीन लोक ना पाइये, अरु इक इस ब्रह्मण्ड॥ ३॥
(सा० ग्रन्थ, सतगुरु को अं० १७।१३।४॥ और

सा०—कबीर हम गुरु रस पिया, बाकी रही न छाक।
पाका कलस कुम्हार का, बहुरि न चढ़सी चाक॥ ४॥
(सा० प्रेम को अंग ३७)

अर्थात् जैसे पक्का हुआ कुम्हार का कलश-घड़ा फिर चक्र (चाक) पर नहीं चढ़ता, वैसे ही सद्गुरु के प्रेम-रस को पान करने वाले को फिर सृष्टिरूपी चक्र (चाक) पर चढ़ना नहिं पड़ता अर्थात् फिर जन्म धरना नहीं पड़ता शुद्ध मुक्तात्मा हो जाता है। उसकी फिर कोई रस पान करने की इच्छा नहीं रहती। जैसा कहा हैः—

श्लोः—यथाऽमृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम्।
तत्वज्ञस्य तथाताक्ष्र्य न शास्त्रेण प्रयोजनम्॥ १॥
(ग० पु० सारोद्धार अ० १६।८६)

टी०—जैसे अमृत सों तृप्त (सन्तुष्ट) पुरुष को अहार दूसरे भोजन

सों कुछ प्रयोजन नहीं है हे गरुड़! ऐसे ही तत्त्वज्ञानी को शास्त्र सों कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वेद शास्त्रों के पढ़ने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता ॥१॥

यथा–श्लो:—मुक्तिदा गुरुवागेका विद्यासर्वा विडम्बिका। काष्ठ भार सहस्रेषु ह्येकं संजीवनं परम्॥ अद्वैतं हि शिवं प्रोक्तं क्रियायास विवर्जितम्। गुरु वक्त्रेण लभ्येत ना धीता गम कोटि भिः॥ २॥

(ग० पु० सा० अ० १६।८९)

टी०—एक (सद्बोध प्रवर्तक) गुरु की वाणी मुक्ति को देने वाली है जैसे काष्ठ के हजारों गठ्ठों (वोझ या भार) में संजीवन (मृतक को जीलाने वाला) काष्ठ एक ही (सर्वोंपरि) श्रेष्ठ है तैसे गुरु की एक वाणी ही मोक्ष प्रदायिनी है ॥ १ ॥

दो०—भृङ्ग शब्द सुनि कीट ज्यों, करि विस्मृतस्वरूप।
भृङ्ग स्वरूप स्मृति सों, होत तासु अनुरूप ॥ १ ॥
तथा शिष्य गुरु वाक् इक, सुनि मनविषयविसार।
शुद्धात्म-गुरु-मूर्त्तिवत्, मोक्ष होत नहिं वार ॥ २ ॥

"क्रिया में जो आयास (परिश्रम) तिसे रहित (क्रिया से नहीं प्राप्त योग्य) अद्वैत (एक) शिव (कल्याण स्वरूप परमात्मा) रूप कहे हैं वह गुरु के मुख से मिलते हैं पढ़ते करोडों आगम (शास्त्रों) से नहीं मिलते हैं ॥ २ ॥

(ग० पु० सारोद्धा अ० १६।८९।९०)

श्लो०—दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजाऽवस्था सद्गुरोः करुणाविना ॥ १ ॥

(महोप० ४।७७)

अर्थः—विषयों का त्याग होना दुर्लभ दूर है और तत्व-सत्य का दर्शन प्राप्त दुर्लभ-अलभ्य है, तथा जीव की सहज अवस्था-दशा (वास्तविक अवस्था प्राप्त कठिन दूर है, तब तक की जब तक सद्गुरु की दया नहीं होती ॥ १ ॥

श्लो०—स पण्डितः स च ज्ञानी स क्षेमी स च पुण्यवान् । गुरोर्वचस्करो योहि क्षेमं तस्य पदे पदे ॥ १ ॥ (ब्रह्मवैवर्त पु० ब्र० २३।७)

टी०—वही वास्तविक पण्डित है और वही सच्चा ज्ञानी है तथा वही कल्याण कर्ता और वही पुण्यशील-पुण्य करनेवाला है; जो पूर्णरूप से गुरुवचन का पालन करता है, उसका प्रतिपद-पद पर कल्याण होता है ॥१॥

इसी कारण देवाधिदेव महादेवजी का यह प्रवचन है ।

श्लो०—ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् । मन्त्र-मूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥ १ ॥ (गु० गी० १६०)

टी०—गुरु-मूर्त्ति ध्यान ही सब ध्यानों का मूल है, गुरु के चरण कमल की पूजा ही सब पूजाओं का मूल है, गुरु वाक्य ही सब मन्त्रों का मूल (जड़) है और गुरु की कृपा ही मुक्ति प्राप्त करने का प्रधान कारण है ॥ १ ॥

सा०—मूल ध्यान गुरुरूप है, मूल पुजा गुरु पाँव । मूल नाम गुरुवचन है, मूल सत्य सतभाव ॥ १ ॥ (सा० ग्र० गुरुदेव को अं० ६०)

टी०—गुरु स्वरूप के ध्यान करने पर किसी ध्यान की आवश्यकता नहीं होती, और गुरु के चरणों की पूजा के अनन्तर दूसरी पूजा की आवश्यकता नहीं होती । इसी प्रकार गुरुवचनों को हृदय में धर लेने पर दूसरे नाम को उसमें धरने की जरूरत नही होती, और अपने भाव को सत्य बनाने पर सत्य को ढूंढने की जरूरत नहीं होती ॥ १ ॥ श्रीगुरुदेव जब सबसे बड़े हैं तब उनकी सेवा कौन करने में समर्थ हो सकता है ? अर्थात् गुरु सेवा अतिशय कठिन है ॥ इसीसे कहा है ।

प्र० कीजिये क्या ? उ० पूजा ।

दो०—पूजा गुरु की कीजिये, सब पूजा जेहि माहिं ।
ज्यों जल सींचे मूलको, फूले फले अघाहिं ॥ १ ॥
(तीसा यंत्र २)

इसीसे कहा गया है कि सद्‌गुरु देव की आराधना से सब आराधना सिद्धि हो जाती है। यथाः—

सा०—एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।
ज्यों गहि सींचे मूल को, फूले फले अघाय ॥ १ ॥

(साखी ग्रंथ)

अर्थात् एकमात्र सद्‌गुरु देव की आराधना से निखिल ब्रह्माण्ड भर की याने सम्पूर्ण देव-पित्रों की आराधना सिद्ध हो जाती है। जैसे वृक्ष के मूल (जड़) में जल देने (डालने) से वृक्ष के समस्त शाखायें, पत्र (पत्ते) पुष्प-फूल सब संकुल (सींचित) हो जाते हैं, और वृक्ष के मूल में जल न देकर केवल पत्ते २ जल देने से वृक्ष के मूल (जड़) सूख जाने से सब शाखा, पत्र, फूल, फल सूख जाते हैं, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, तैसे ही सद्‌गुरु की आराधना न करने पर भ्रमात्म-ज्ञान तथा काल्पनिक कल्पना उत्पन्न होकर जीवको संशय-विपर्य्य अज्ञान द्वारा विनष्ट कर देती है, अर्थात् मोक्ष अधिकारी मनुष्य जन्म व्यर्थ ही चला जाता है ॥ १ ॥

दो०— सर्वदेव गुरु देव में, वर्णहिं सहज सुजान।
सद्‌गुरु कृपा कटाक्ष से, प्रापत स्वात्म ज्ञान ॥ १ ॥
या में कछु संशय नहीं, सर्व सार सिद्धान्त।
सद्‌गुरु अमृत सिन्धु हैं, निर्मूलक अघ भ्रान्त ॥ २ ॥

इस विषय में विशेष लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के सदृश्य व्यर्थ ही है ॥ इति ॥

निवेदक
सर्व सज्जनों का दासानुदास
शिवबन्धन

मत्तगयन्द सवैया

सद्गुरुदेव पदाम्बुज को, प्रणमो प्रतिश्वास अन्नतन वारा।
हंस, मयंक, अनन्त तुलैं नहिं, है नख-भास असीम अपारा॥
जाहि प्रदर्शितमा-तम दूर, होवैंचक चूर मोहादि विकारा।
अन्तः करण मनो चित बुद्धि,समूल विनष्ट होवै ऽहंकारण॥ १॥

महन्त श्री शिवबंधनदासजी साहेब

श्री कबीर मदिर, तेलारी, पोस्ट तेलारी, जि० आरा

सद्गुरु चरण-नख-द्युतिहिं ध्यावत, खुलहिं दिव्यविलोचनम्।
स्वप्रकाश असीम-निशि गत, काल कष्ट विमोचनम॥
भ्रांत-भेद समस्त नष्ट,विनष्ट अघ, भवशोचनम्।
शुद्ध सत्य समत्त होतहिं, हंस होहिं अशोचनम॥ २॥

ग्रंथकार का परिचय

बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिलान्तर्गत भभुआँ सब डिविजन में चान्द एक छोटा-सा थाना है, जिसमें दुलही सोनाव एक छोटी-सी बस्ती है। उसी बस्ती में एक छोटा-सा कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार रहता था, जिसमें सम्वत् १९४९ वि० के अग्रहण शुक्ल अष्टमी शुक्रवार को हमारे इस देदीप्यमान संत-रत्न का प्रादुर्भाव हुआ। आपके पिता का नाम था पं० गौरीशंकर पाण्डेय, जो आपके वचपन ही में जब कि दूध के दाँत भी नहीं टूट पाये थे, नाता तोड़ सं० १९५६ वि० में स्वर्ग सिधार गये। अब आपके भरण-पोषण का भार एकमात्र विधवा माता श्रीमती विरंजी देवी पर पड़ा। कुछ दिनों तक तो मा-बेटे बड़ी शान्ति से रहे और परिवार के प्रतिष्ठा-भाजन भी बने रहे; किन्तु अभी पति-पिता-वियोग का साल भी नहीं बीत पाया था कि कलह प्रारम्भ हो गया।

पति-विहीन हिन्दू-नारियों की जो प्रतिष्ठा घर या समाज में है, किसी से छिपा नहीं है। पद-पद पर घृणा, ताना, उपालम्भ आदि शस्त्रास्त्रों के वार होते ही रहते हैं आज बिचारी हिन्दू विधवाओं पर। और यदि कहीं सम्पत्तिवाली विधवा हुई, तो उसे बराबर काल के गाल में ही समझिये। विरंजी देवी को भी आर्थिक सम्पत्ति तो नहीं लेकिन दश-पाँच विगहे खेत अवश्य मिलते हिस्से में। भाई जैसा हित न भाई जैसा दुश्मन। उनके क्रूर दयाद बराबर इसी ताक में रहने लगे कि जैसे हो दोनों मा-बेटे को हिस्सा नहीं मिले। मा-बेटे को आये दिन तंग करते। मारते-पीटते। शान्ति-प्रतिमा वृद्ध विरंजी ने एक दिन नयनों में नीर भर कहा—मुझे धन-माल की आवश्यकता नहीं है; सिर्फ

एक कोठरी ही आप लोग दे दीजिये, मैं पिसौनी-कुटौनी कर अपने "शिवबन्धन" को पाल लूँगी। किन्तु सुनता कौन असहाय विधवा की पुकार। यह प्रस्ताव भी मंजूर नहीं हुआ। भय था कि सयाने होने पर श्री शिवबन्धन पाण्डेय कहीं हिस्सा न ले लें। फिर क्या था मा-बेटे को एक-दिन मार-पीटकर निकाल ही तो दिया उन नर-राक्षसों ने। बिचारी बुढ़ी मा उन हत्यारों की धमकी के कारण पुलिस में इतला भी नहीं दे सकी। अनाथ बच्चे की जान जो बचानी थी। पतिहीना दीना अपने होनहार बालक को गोद लिए चल पड़ी, अज्ञात-पथ पर, पति का घर छोड़—पति-संपत्ति-वंचिता संपति से ममता तोड़, एक दम तड़के।

सबेरे का सुहावना समय था। सूर्य अपने प्रकाश से संसार को नवीन ज्योति प्रदान कर रहा था। दुनिया खिलखिला रही थी सोना लूट कर। दुलही सोनाव छोड़ मा अपनी गोद में अपने सोना को सँजोये विदग्ध हृदयोत्पन्न मोती पलकों से पग-डंडी पर बिखेरती शिथिल गति से बढ़ रही थी। कभी क्षणभर रुक जाती और कुछ देर बाद पुनः चिन्तित मुद्रा आगे बढ़ती। ज्ञात हो रहा था जैसे पैर मन-मन भर के हो रहे थे। कुलकानि एवं लोक लज्जा के बोझ से दबे सजल नयन मा वसुन्धरा से दया की भीख माँग रही थी। इसी ऊहापोह में वह धीरे-धीरे बालक को लिए पतिगृह से दूर निकल आयी और जब सिर उठाया तो सामने बगल में एक मठ दिखलाई पड़ा। वह रुक गई मठ द्वार के सम्मुख वृद्ध संन्यासी को चौकी पर बैठे देख और करुण दृष्टि से ताकने लगी इधर-उधर। इसी बीच महात्मा की उस दुखिया पर नजर पड़ गई और उन्होंने उसे पुकारा—कहाँ रहती हो मा!

शरम के मारे वह गड़ गई और कुछ नहीं बोल पाई बिचारी, सिर्फ नयनों से अविरल नीर ढर रहे थे। पुनः बाबा ने पुकारा—क्यों मा! बोलती क्यों नहीं ?

वह करुण स्वर से बोली—मैं एक अनाथ दुखिया विधवा ब्राह्मणी हूँ। मेरे दयादों ने मुझे घर से निकाल दिया है।

बाबा को दया आ गई और आसन छोड़ समीप चले गये और बोले—बात क्या है? सहानुभूति पा विरंजी और फफक-फफक रोने लगी। सचमुच मनुष्य के दुःखों को कोई सुनने वाला मिल जाता है, तो करुणा का बाँध और टूट जाता है और हृदय में बाढ़ आ जाती है और नयन निर्झर बन जाते हैं। यही गति दुखिया विधवा ब्राह्मणी की हुई। रोती जाती और अपनी करुण-कहानी कहती जाती। दर्द भरी कहानी सुन महात्माजी के नयन सजल हो गये और एक ठंढी साँस ले उनने कहा– मा! तुम लोग चलो मेरे मठ में। मैं तुम्हें एक कोठरी दे दूँगा। रहो और भगवद् भजन करो। सब दुःख दूर करेंगे राम! संसार दुःखागार है ही। घबड़ाओ मत।

सहानुभूति पूर्ण संबल पा मा बेटे को लिए बाबा के पीछे-पीछे चल पड़ी और आमरण पीछे-पीछे चलती रही।

महात्माजी का नाम था श्री १००८ महन्त श्री प्रह्लाद जी साहेब। बिऊर कबीर मठ के मठाधीश थे आप। यदि आपकी असीम अनुकम्पा नहीं होती, तो हमें अपने संत-रत्न के स्नेह-सिक्त वचनामृत पान करने का सुअवसर एवं सौभाग्य कदापि प्राप्त नहीं होते।

महात्मा जी के स्निग्ध स्नेह साया में शिववन्धन जी अध्ययन करने लगे। मा-बेटे सुख शान्ति से जीवन बिताने लगे साधु-सेवाकर-भगवद् भजन कर। कुछ दिनों के बाद विरंजी के बहुत आग्रह करने पर बाबा ने उन्हें गुरु-दीक्षा दी। अब उनके नये नामकरण हुए। विरंजी देवी का नाम पड़ा लक्ष्मी देवी और शिववन्धन जी का श्री शिवबन्धन दास।

जिस समय श्री १०८ महन्त श्री शिववन्धन दासजी ने गुरु दीक्षा ली थी, उस समय उनकी अवस्था सिर्फ ग्यारह साल की थी। दोनों मा-बेटे मनसा-वाचा-कर्मणा अपने गुरु की सेवा में लगे रहे और तृप्त करते रहे अपने प्यासे हृदय को गुरु वचनामृत पानकर निरन्तर। अभी बाल संन्यासी की मातृ-स्नेह सुधा से प्यास भी नहीं बुझ पायी थी कि मा भी अपना साया सिकोड़ सम्वत् १९६८ वि० में महानिर्वाण-पथ-गामिनी हुई। अब सचमुच शिववन्धन जी भववन्धन से मुक्त हो सच्चे अर्थ में शिववन्धन हो गये और आपके सम्मुख सिवाय पावन गुरु पद-पंकज-सेवा के दूसरा काम नहीं रह गया तथा आध्यात्मिक चिन्तन के अतिरिक्त न कोई चिन्तन ही। गुरु-सेवा से जो समय बचता स्वाध्याय में खप जाता। व्यर्थ समय बर्बाद करना तो कभी भी आपको भाया ही नहीं। आज भी आप ६४ साल की वृद्धावस्था में व्यर्थ समय नहीं गवाँते। कुछ न कुछ आध्यात्मिक कार्यक्रम चलता ही रहता है। इसका कारण है प्रारम्भिक संयमी सहज स्वाभाविक सनिष्ट गुरु सेवा-जनित साधु-संस्कार।

कुछ ही दिनों में आपने गुरु की सेवा एवं स्वाध्याय से हिन्दी, उर्दू और संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा गुरु की कृपा से आध्यात्मिक विषयों पर अधिकार पूर्णरूपेण हो गया। आपके सम्यक ज्ञान, निष्काम सेवा, धर्मपरायणता प्रभृति गुणों का अवलोकन कर ही गुरुजी ने आपको अपना उत्तराधिकारी चुना था और यही कारण था कि श्री १००८ महन्त श्री प्रह्लाद जी साहेब के देहावसानान्तर विऊर के कबीर मठ की गद्दी आपको ही मिली; किन्तु कुछ ही दिनों के पश्चात् गुरु की विदग्धकारिणी विरहाग्नि की ज्वाला ने बेचैन कर दिया और उसे शान्त करने के उद्देश्य से तीर्थाटन को निकल पड़े तथा कई सालों

तक काशी, प्रयाग, बम्बई आदि शहरों में घूमते रहे। इन्हीं दिनों आपने गुजराती आदि भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया।

जब पर्यटन से लौटे, तो विऊर का मठ ध्वंस हो चुका था; अतः वहाँ तबीयत नहीं लगी और शिष्यों के आग्रह से सहसराम सबडिविजन के चेनारी थानान्तर्गत तेलारी नामक गाँव में, जो कुदरा के निकट दुर्गावती नदी के तट पर बसा हुआ है, कबीर मंदिर की स्थापना की। संवत् १९७७ में तथा तपश्चर्या करने लगे। आप और तब से आज तक अहर्निशि सरिता की धारा-सी साधना अविराम गति से चल रही है तथा चलती रहेगी। भविष्य में भी और हरती रहेगी। अपने स्नेह-सुधा से प्यासे अमृत पुत्रों की प्यास—अपने आध्यात्मिक अंशुओं से अचेत चैतन्यों के अन्धकार।

महात्मा जी को यद्यपि चौंसठ विषम बरसात, कठिन कषाले पाले, बौड़म बावले वसन्त, तप्तकारी तपन आदि ने काफी सताया; पर वे सोने-सा दिनोंदिन निखरते गये। स्वाध्याय, साधना तथा तपश्चर्या के आँच ने मस्तिष्क, हृदय तथा आत्मा को निर्मल और शक्ति संपन्न बना दिया। यही कारण है कि इस बुढ़ापे में भी मैं आप में जो चुस्ती, फुर्ती, मुस्तैदी एवं कार्य-क्षमता देखता हूँ, शायद जवानों में भी नजर नहीं आती। आँखों पर साधारण ऐनक लगाये पुस्तकावलोकन, तो कभी कभी लालटेन की धीमी रोशनी में ग्रंथ-लेखन। कार्यकुशल उदारचेता इतना कि कोई भी व्यक्ति जाय, बिना सत्संग-पीयूष पान किये निराश नहीं लौटता। आकर्षण इतना कि एक बार दर्शन कर लेने पर पुनः दर्शन किये बिना चैन नहीं। मैं पहले-पहल गत वर्ष दशहरे के अवकाश में, दर्शनार्थ गया था। एक साहित्यकार के नाते, बिहार-राष्ट्र भाषा-परिषद् के महामंत्री आचार्य श्री शिवपूजन सहाय जी के द्वारा रचित एवं सम्पादित

"बिहार का साहित्यिक इतिहास" के निमित्त पटना भेजने के लिए जीवन-वृत्त प्राप्त करने। प्रथम संभाषण से ही श्रद्धा के श्रोत परिस्तावित होने लगे मानस में।

महात्मा जी सिर्फ कबीर पंथी संत ही नहीं हैं; बल्कि एक अच्छे साहित्यकार भी हैं। कबीर पंथी होने के नाते तो कबीर-साहित्य पर पूर्ण अधिकार रखते हैं; किन्तु साथ ही साथ अन्य धर्म सम्बन्धी साहित्यों पर भी काफी धाक है। वैदिक, पौराणिक आदि भारतीय साहित्यों का सदा अध्ययन-मनन करते रहते हैं। यही कारण है कि इनकी रचनाएँ संस्कृत गर्भित हैं। ऐसे तो आपका रचना काल सं० १९७९ वि० से ही प्रारम्भ हो जाता है; लेकिन सर्व प्रथम रचना सं० १९९४ वि० में "सद्‌गुरु स्तोत्रा-वली" प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में भिन्न-भिन्न छन्दों में गुरु की महिमा, वन्दना, उपासना आदि की परिपुष्टि धार्मिक ग्रंथों के के प्रमाण स्वरूप उदाहरण देकर की गई है। आपकी दूसरी पुस्तक "मोक्ष प्रवेशिका" सं० १९९५ वि० में प्रकाशित हुई। इसमें मोक्ष और मोक्ष प्राप्ति के साधनों का सोदाहरण प्रतिपादन किया गया है विविध छन्दों में। तीसरी रचना "श्री शान्ति-सरोजांजलि" है, जिसमें शरीर तत्व, जीवन तत्व, मुक्ति तत्व आदि भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक विषयों को सोदाहरण समझाया गया है अनेकों पद्यों में। चौथी पुस्तक "सिद्धान्त सारामृत" को आज प्रकाशित होते देख मेरा मन बाँसों उछल रहा है। इसकी पाण्डु लिपि मैंने यत्र-तत्र देखी है। अध्यात्मिक सद्‌सिद्धान्तों का बड़ा सुन्दर समावेश है इसमें। पढ़ कर अपूर्व शान्ति मिलती है।

महात्मा जी की रचना-शैली कबीर साहित्य-परम्परा की है और भाषा भी कबीर पंथी अन्य संतों की नाईं सधुक्कड़ी ही है। जिस तरह अन्य संतों ने गागर में सागर भर दिया है, उसी तरह हमारे महात्मा जी ने भी विन्दु में सिन्धु लहराने का प्रयास

किया है। और सफलता भी मिली है, यत्र-तत्र, पूर्णरूपेण।
रचनाएँ भाव-प्रधान हैं। भाषा के जीर्णावरण से बन्ध मुक्त भाव-रश्मियाँ अनायास मचल पड़ती हैं, फूट पड़ती हैं, बिखर पड़ती हैं, भौतिकता को, नश्वरता को, कलुषता को चुनौती देती। रचनाओं का अवलोकन करते ही मानस में आध्यात्मिक-विचार धारा प्रवाहित होने लगती है और सद्गुरु-स्नेह-सिक्त प्रकाश-स्फूलिंग स्फूलित होने लगती है। मन-मन्दिर में और आत्मा पुकार उठती है—चिल्ला उठती है चित्कार कर—

"खोज रहा तू किसको बन में, वह तो तेरे भीतर है।
जब तक तेरा "मैं" न मिटेगा, तब तक बन का तीतर है।
'अहं भाव' का परदा तेरे नयनों पर है पड़ा हुआ;
'माया-मोह-कपाट' रुचिर हृत् द्वारों पर है जड़ा हुआ;
जब तक 'परदा' फट न सकेगा नजर नहीं आ सकता है।
'कुलिश-कपाट' न टूटेगा जब तलक नहीं पा सकता है।
अरे, दिव्य शस्त्रास्त्रों का कर तू प्रयोग होकर निर्भय;
रिपु न रहेगा, एक न बाधा, विजयी पायेगा निश्चय।
सद्गुरु-कृपा-कवच धारण कर मन विकार वाणों से बच।
स्नेह-सुधा 'राकेश' पिया कर पार उतर जायेगा सच।"

देवोत्थान,
सं० २०१३ वि०

संत-चरण-चंचरीक—
देववंश सहाय 'राकेश'
मुकाम—कैथी,
सहसराम (शाहाबाद)

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

श्री सिद्धान्त-सारामृत

मङ्गलाचरण

दोहा

बहुमत पथ हैं विश्व में, लक्ष्य सबहिं का एक।
भव बंधन से मुक्त हित, सब मिल करहिं विवेक॥ १॥
निज मत पथ सबको प्रिय, सर्वोत्तम सब मान्य।
आस्तिक नास्तिक भेद से, विस्तृत मान्य अमान्य॥ २॥
निर्विवाद शुचि मान्यता, सब की एक समान्य।
गुरु-पद-पंकज प्रेम दृढ़, नास्तिक हूँ तक़ मान्य॥ ३॥
सर्व सिद्ध सिद्धान्त का, निर्णित यह पद सार।
गुरु विमोक्ष प्रद एक है, अपर सकल अविचार॥ ४॥

माधवी सवैया

तेहि ते गुरु के पद-पंकज ही, सरवोपरि वन्दनीय जग सारा।
तिन्हें मानश वाचिक कायिक वन्दन, श्वाँस प्रश्वाँस असंख्य हमारा।
सोइ काल तिहूँ त्रियलोकन के, सब जीवन के भव तारण हारा।
भ्रांति समूल विनाशन कारक, केवल आपहिं विश्व अधारा॥१॥
शुचि पूरब पुण्य अनन्त जगे, तेहि के उर में पद प्रेम अखण्डा।
जीवन मोक्ष समक्ष विषय़ गत, तत्त्व प्रदर्शन परम प्रचण्डा।
मोक्ष विदेह अद्वन्द्व निरंतर, सहजं स्वरूप हो रहित पखण्डा।
तब पावन चिंत्रित चित्त अचंचल, हो गत वाद विवाद वितण्डा॥२॥

गुरु के पद की रज मूरि[१] अमी, तेहि सेवत भौ रुज सर्व नशाहीं ।
त्रिय ताप नशयँ तिहुँलोकनके, त्रिकाल विषे पुनि व्यापहिं नाहीं ।
तेहि [२]भाल धरें गुण स्ववश राजहिं, आजहिं देव अधीन सदाहीं ।
मन मानश मंदिर मंजुल हो, शुचि सुस्थिर राजस्व ध्यान के माहीं ।।३।।
सब त्यागि विषय व्रत मौन ग्रहै, अघ[३] दाप दहै निवृत्ति सदाहीं ।
दृढ़ पावन शीतलता समता रत, शील, क्षमा निर बैर रहाहीं ।
तोष अदोष अभय निःसंशय, रोष विहीन स्वतंत्रहि माहीं ।
अछोभ,अलोभ, अमोह मया गत, कर्म, अकर्म को भरम नशाहीं ।।४।।
गुरु के पद अंबुज में नख जे[४], ते विशुद्ध विकाशक भानु अनन्ता ।
निगमागम[५] सर्व पुराण भनै, तेहि हेतुहिं संतत ध्यावहिं संता ।
तिन्हें ध्यावत ही दृग दिव्य खुलें, [६]घट मोह निशा कर ततक्षण अन्ता ।

१—अमिय मूरि मय चूरण चारू । शमन सकल भवरुज परिवारू ॥
(रा० बा०)

२—जनमन मंजु मुकुर मल हरणी । किये तिलक गुणगण बसकरणी ॥
(रा० बा०)

३ टि०—श्लो०—सर्वपाप विशुद्धात्मा श्रीगुरोः पद सेवनात् ।
सर्वतीर्थावगाहस्य फलं प्राप्नोति निश्चितम् ॥१॥ (गु. गी. १६९)

टीका—श्रीगुरुदेव की चरण सेवा करने पर जीवात्मा सब पापों से मुक्त और पवित्र हो जाता है, और सर्वतीर्थों में स्नान करने से जितना फल होता है उसको उतना फल लाभ होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं (गु. गी. १६९)

४ चौ०—श्रीगुरु पद नख मणि गण जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥ १ ॥
(रा० बा०)

५ श्लो०—सर्वश्रुति शिरोरत्नविराजिता पदाऽम्बुजः ।
वेदान्ताऽम्बुज सूर्य्योयस्तस्मै श्रीगुरवेनमः ॥१॥ (गु. गी. १५२)

टीका—जिनके चरण कमल-युगल समस्त श्रुतियों के शिरोमणि रूप

हो दोष त्रिधा निरमूल सबै तब, भव रुज ताप को होहिं प्रहन्ता ॥५॥
तब दृष्टि परै मणि, माणिक आकर, गुप्त अगुप्त यथार्थ स्वरूपा ।
स्व ज्ञान, विचार, विवेक समागम, संतत् काल सुशान्ति अनूपा ।
अरु संशय शूल विभ्रान्ति नशय, अघ तूल दहै शुचि स्मृति रूपा ।
नहिं कोउ कहै गुरु के पद के नख तेज अखंड अनन्त अनूपा ॥६॥

हरिगीत छन्द

गुरु-पद्म-पद नख ध्यावते, तम-तमा सकल विनष्ट हो ।
अन्तःकरण स्वप्रकाश अद्भुत, शमन कष्ट समष्टि हो ॥
दारुण अविद्या आपदा, भव-भाव भ्रांत स्पष्ट हो ।
संकल्प सकल विकल्प गत, मन आप सहजहिं [१]भ्रष्ट हो ॥ १ ॥
मन हो विलीन स्वरूप में, भव-भाव भ्रम रहता नहीं ।
निर्भ्रान्ति सहजानन्द में, मद कल्पना चहता नहीं ॥

से विराजित है, जो वेदान्तरूप अमल कमल के विकसित करने में कमल पति सूर्य्य हैं ऐसे श्रीगुरुदेव को नमस्कार है ।

१ टि०—शब्द—करो न कोइ यह मन की परतीत ।
थाह बताइ बुडावत भव में, बनि हितकारी मीत ॥
गुनै न उदय अस्त निशि वासर, छाह धूप जल शीत ।
भटकत फिरै निरन्तर, चहु दिशि ऐसो महा पलीत ॥
स्वर्ग पताल जाय एक पल में, कपि सम अति निर्भीत ।
गण गन्धर्व असुर सुर किन्नर, सबको लीनो जीत ॥
ऋषी, मुनी, योगी वनवासी, तपसी सिद्ध अतीत ।
छल्यो सकल ज्ञानी विज्ञानी, बहुविधि करि अनरीत ॥
सुनै न एकु सीख काहू की, गावै अपनी गीत ।
कहैं कवीर डरै यह तिनसे, जिनकी गुरु से प्रीत ॥ १ ॥
(शब्दामृत-सिन्धु म० ७१४)

मन सहज ही संकल्प करि, त्रिय जग रची उन्मेष[१] में ।
मोहित सुरासुर नाग नर, वे मान ते सत् वेष में ॥ २ ॥

---

१ दो०—मन उन्मेष जगत भयो, विन उन्मेष नसाय ।
कहो जगत कित सम्भवै, मनहीं जहाँ विलाय ॥ १ ॥
(विचार माला वि. ७।१२)

श्लो०—मनोहि जगतां कर्तृ मनोहिं पुरुषः परः ।
मनः कृतं कृतं लोके न शरीर कृतं कृतम् ॥१॥ (यो. वा. ३।८२।१)

अर्थः—श्रीवशिष्ठ जी कहते हैं कि हे रामजी ! मन हीं जगत-का कर्ता है, इसलिये मन ही परम पुरुष है क्योंकि ? कर्ता कर्म से न्यारा (भिन्न) रहता है, याने मनोमय कोश में होकर ही (चेतन) सृष्टि करता है शुद्ध स्वरूप से आप परे रहता है; इसलिये मन के संकल्प मात्र से मन का किया हुआ संसार है शरीर का किया कुछ नहीं है ॥१॥ (संसार का कर्ता होने ही से मनोमय कोष को कारण शरीर कहते हैं)

श्लोः—स्वप्नेऽथशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादिविश्वं मन एव सर्वम् । तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वं मे तन्मनसो विजृम्भणम् ॥ १ ॥

टीः—जैसे स्वप्न अवस्था में अथवा शून्य प्रदेश में मन ही भोक्तृत्व आदि सब विश्व की सृष्टि करता है तैसे जाग्रत् अवस्था में भी कुछ विशेष नहीं है, यह सम्पूर्ण प्रपञ्च केवल मन ही का तरंग है ॥ १ ॥

श्लोः—मनः प्रसूते विषयान शेषान्स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः । शरीर वर्णाश्रम जाति भेदान्गुण क्रिया हेतु फलानि नित्यम् ॥ २ ॥

टीः—स्थूल सूक्ष्म रूप से भोक्ता पुरुष के सम्पूर्ण विषय को तथा शरीर वर्णाश्रम, जाति, भेद, गुण, क्रिया, कारण, फल इन सबको मनहीं सदा उत्पन्न करता है ॥ २ ॥

श्लोः—असं चिद्रूपममुं विमोह्य देहेन्द्रिय प्राण गुणैर्निवध्य । अहं ममेति भ्रमयत्यजस्रं मनःस्व कृत्येषु फलोप भुक्तिषु ॥ ३ ॥

टी०—असंग चैतन्य स्वरूप ईश्वर को मोहित कर देह इन्द्रिय प्राण

सत्त्वादि गुणो से बाँधकर अपना कल्पित जो सुख दुःख आदि फल है उसके उपभोग में अहं मम अर्थात् यह मेरा है यह मैं हूँ ऐसे भ्रम को मन सर्वथा प्राप्त कर देता है ॥ ३ ॥

श्लो०—अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डिता स्तत्त्वदर्शिनः । येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुने वा भ्रमण्डलम् ॥ ४ ॥ (विवेक चूडामणिः । १७३।१८०। १८१।१८३)

टी०—इसलिये यथार्थदर्शी पण्डित लोग मनहीं को अविद्या कहते हैं; जिस मन के वेग से जैसे वायु वेग से मेघमण्डल भ्रमण करता है, तैसे मन हीं के वेग से सम्पूर्ण विश्व भ्रम को प्राप्त हो रहा है ॥ ४ ॥

सा०—मन गोरख मन गोविना, मनहीं औघड सोय । जो मन राखे जतन करि, आपे करता होय ॥ १ ॥ (सां० ग्रं०)

"वांत्री में विषधर वसे, कोइ पकडि न पावे । कहैं कवीर गुरुमंत्र से सहजे चलि आवै ॥ इत्यादि ॥

श्लो०—विजित हृषिकवायुभिरदान्त मनस्तुरगंयइह यतंति यंतु मति-लोलमुपाय खिदः ॥ व्यसन शतान्विताः समपहाय गुरोश्चरणं वणिज इवाजसमकृत कर्णधराजलधौ ॥ १ ॥ (भा० १० वेदस्तुति)

टी०—योगाभ्याशी अपनी इन्द्रियकूँ और प्राणवायु को जीत लेते हैं ताते मन को नहीं जीत सकते मन है सो वड़े वलवान् चपल तुरग (घोड़ा) के सदृश है, जैसे भारी वलवान् चपल विना लगाम के घोड़ा असवार के वश में नहीं रहते तैसे योगीजन के मन वश नहीं होता ताके वश करने के लिये उपाय करि के थक जाते हैं अर्थात् जितेन्द्रिय होने पर भी योगी के वश मन नहीं रहता है तामें हेतु योग के ८ अंगो में ५ प्रत्याहार पर्यंत जब सिद्ध होता है तब अणिमादिक सिद्धि आय के योगी के मन कूं चलायमान करके योग भ्रष्ट कर देती हैं अर्थात् तत्त्व प्राप्ति नहीं होती है ताते एतादृश योगिन करके भी अजेय मन को इस संसार मार्ग में अहंता ममता ग्रसित जो कोई विना गुरु के शरण भये जीते चाहते हैं

हरिगीति छन्द

मन का अभाव स्वरूप में, फिर विश्व को विरचे भला ? ।
माया नियन्ता कोउ नहीं, संसार माया की कला ॥
ममता अहंता विषमताही, फांसती जीवन गला ।
गुरु पाद-नख के ध्यान शुचि में, दग्ध सब कल्पित कला ॥ ३ ॥
इस हेतु सर्वाराध्य में, गुरु देव ही पर देव[1] हैं ।

वह शतशः नाना विध दुःख भोगते हैं, या में दृष्टान्त देते हैं वणिजः नाम व्यापारी लोग कर्णधार-पतवारी को त्याग के समुद्र में जहाज ले जाते हैं तो जैसे वह लोग दुःख भोगते हैं तैसे दुःख भोगने पड़ते हैं ताते मोक्ष-मार्ग में श्रीगुरुदेव के शरण हो के सदाचार युक्त भजन से ही जीव को कल्याण-उद्धार है तादृश गुरु की कृपा ते तादृश मन भी मोक्ष परायण हो जाता है ॥ १ ॥

इसी कारण कहा गया है कि, साखी०—गुरु हैं वड़े गोविन्द से, मन में देखु विचार । हरि सिरजे ते वार हैं, गुरु सिरजे ते पार ॥ १ ॥ गुरु सरनागति छाडि के, करे भरोसा और । सुख संपति की कह चली, नहीं नरक में ठौर ॥ २ ॥ (सा० प्र० ६।३५)

दो०—गुरु गोविन्द ते अधिक हैं, यह प्रतीत मन लाय ।
गोविंद डारैं नरक जो, तौ गुरु लेइँ बचाइ ॥ १ ॥
(वि० सा० ५।१६)

"हरि माया बसि जीव भ्रमतु है, मोह पास अरुझाने ।
गुरु की कृपा छूटि वंधन से, पहुँचे मुक्ति ठेकाने ॥"
(शब्दामृतसिन्धु)

१ टि०—श्लो०—गुरुरेव जगत्सर्व्वं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्' गुरोः परतरं नाऽस्ति तस्मात् सम्पूजयेद् गुरुम् ॥ (गु० गी० १६२)

टीका—गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन त्रिदेव रूपों से समस्त

ब्रह्मादि सुर सनकादि नारद, करत संतत् सेव हैं॥
अमित कल्पाराध्यना, जगदीश की जो कोउ करै।
इक निमिष गुरु[1] आराधना की, तुल्यना सो नहिं करै॥ ४॥
क्योंकि ? रचयिता विश्व का, रचि पालि पुनि संहारता।
भर्मावता भव-चक्र में, नहिं पार भवधि उतारता॥
यह सुयश जग करतार का, श्रुति शास्त्र आदिक गावहीं।
भयभीत हो जगदीश से, सज्जन[2] हरी पद ध्यावहीं॥ ५॥
स्वर्गादि कुछ फल भोग के, पुनि गर्भवासा पावहीं।
परतंत्र कर्माधीन संतत्, ईश नृत्य करावहीं॥
अति युक्ति मन मानी नहीं, सब विश्व में विख्यात है।
भर्मावहीं सब भूत ईश्वर[3], सज्जनों को ज्ञात है॥ ६॥
महा काल कराल हो, हनते विश्वेश्वर सर्व को।
नाग, नर, किन्नर, असुर, सुर, सिद्ध, मुनि, गन्धर्व को॥
सबको धरे निज गाल में[4], पीसन चहैं जबहीं जिसे।
हैं पीसते दैं त्राश नाना, त्याग नहिं करते तिसे॥ ७॥
जैसे शलभ गण दीप में, जा भस्म होते आप ही।

विश्व में व्यापित हैं; गुरु की अपेक्षा और कोई श्रेष्ठ नहीं है, इस कारण गुरु की पूजा करना सदा उचित है॥ १॥ (१६२)

१ दो०—हरि सेवा जुग चार है, गुरु सेवा पल एक।
ताके पटतर ना तुलै, संतन कियो विवेक॥१॥ (सा. प्र. ८४)

२ दो०—शिवविरंचि को, मोहई, को है बपुरा आन।
असजिय जानि भजहिं मुनि, माया पति भगवान॥ १॥
(रा. उ. ८६)

३—नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेश वेद इमि गावत॥
उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥ (रा०)

४ दो०—जिमि नर दाना करक के, भखन कुरख मुख माहिं।

जैसे सरिक सरितों से जा[१], बडवाग्नि में लहै ताप ही ॥
तथा विष्टप जीव सब, लोकेश आनन में परे।
त्राहि त्राहि पुकार हीं, परमेश नहिं संकट हरे ॥ ८ ॥
इतिहास सकल पुराण भी, जगदीश चरित बखानहीं।
नहिं कल्पना कल्पित विकारी, पक्षगत बुध मानहीं ॥
सब धर्म मय गीता कथित्, शुचि विदित विश्व प्रमाणहीं।
भगवान लीला भक्त हित, कल्याण प्रद सब जानहीं ॥ ९ ॥
भगवान तत्त्व स्वरूप, करुणा विवश हो दर्शायऊ।
जेहि देखि अर्जुन विकल, संज्ञा हीन पद शिर नायऊ ॥
रोमांच कम्पित् गात, दिशि उपदिशा ज्ञान नशायऊ।
धरि धैर्यता तजि विर्यता, कर जोर स्तुति सुनायऊ[२] ॥ १० ॥

तिमै काल मुहिं मुख धर्यो, देर चवनकी आहि ॥ १ ॥ कल्प असंख असंख युग, जगत असंखन वार। काल धरे निज उदर में, अवहुँ न लेत डकार ॥ २ ॥ (वैराग्य २०)

सा०—झूठा सुख को सुख कहै, मानत है मनमोद। जगत चवेना काल का, कुछ मूठी कुछ गोद ॥ २ ॥ (सा० ग्रं०)

१ श्लो०—ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्चसर्वावाभूतजातयः। नाशमेवानुधावन्तिसलिला नीव वाडयम् ॥ १ ॥ (यो० वा० प्र० १। स० २९।९)

टीका—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा समस्तजगं जीव अपने नाश होने के लिये काल के मुँह में इस प्रकार दौड़ते हैं जैसे सव संसार के जल सरिताओं द्वारे समुद्र में जाय वडवानल में (समुद्र के भीतर की वह आग जो घोडी के मुँह से निकली हुई मानी जाती है) नाश (भस्म) होते हैं ॥१॥

२—श्लो०—दंष्ट्रा करालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानल सन्निभानि। दिशो न जानेन लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ १ ॥ वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति द्रंष्ट्राकरालानि भयानि कानि। केचिद्विलग्नादशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २ ॥ यथा नदीनां वहवोऽम्बु

वेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति । तथा तवामि नरलोक वीराविश न्त वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ ३ ॥

टीका—अर्जुन कहते हैं, हे भगवन्! आप के विकराल जाड़ों वाले और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर, दिशाओं को नहीं जानता हूँ और सुख को भी नहीं प्राप्त होता हूँ इसलिये हे देवेश! जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें ॥ १ ॥ मैं देखता हूं कि आप में दोनों पक्ष के योधावों के समूह वड़े वेग युक्त हुए आपके विकराल जाड़ों वाले भयानक मुखों में प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के वीच में लगे हुए दीखते हैं ।। २ ।। और हे विश्वमूर्ते! जैसे नदियों के वहुत से जल के प्रवाह समुद्र ही सन्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्र में प्रवेश करते हैं; वैसे ही वे शूरवीर मनुष्यों के समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखों में प्रवेश करते हैं ॥ ३ ॥

श्लो०—यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाविशन्ति नाशायसमृद्ध वेगाः । तथैव नाशाय विशन्तिलोका स्तवापि वक्त्राणि समृद्ध वेगाः ॥ ४ ॥ लेलिह्यसेग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्ववदनैर्ज्वलद्भिः । तेजोभिरा पूर्यजगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ५ ॥

श्री भगवानुवाच्य ।

श्लो०—कालोऽस्मि लोकक्षय कृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिहप्रवृत्तः । ऋतेऽपित्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ६ ॥

टीका—अथवा जैसे पतंग मोह के वश होकर नष्ट होने के लिये प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से युक्त हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह सव लोग भी अपने नाश के लिये आप के मुखों में अतिवेग से वे युक्त हुए प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥ और आप उन सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रसन करते हुए, सव ओर से चाट रहे हैं, हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके तपायमान करता है ॥ ५ ॥

प्रश्नः—

हे भगवन् ! आप कृपा करके मेरे प्रति कहिए की आप उग्ररूप वाले कौन हैं ? क्योंकि मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूं । अर्जुन के उपर्युक्त प्रश्न को सुनकर भगवान बोले ॥ श्री भगवानुवाच । हे अर्जुन ! मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ, इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इस लिये प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित हुए योधा लोग हैं, वे सब तेरे विना भी नहीं रहेंगे, अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी इन सबका नाश हो जायगा ॥ ६ ॥ (गी० ११। २५।२७।२८।२९।३०।३२) तथा ।

श्लो०—अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १ ॥ (गी. ९।१९)

टीका—और हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ ॥ १ ॥

उपर्युक्त तात्पर्य्य से ही "बीजक ग्रन्थ में" कहा गया है कि, ऐसे सत् असत् भाव में वर्तने वाले सर्वव्यापक परिपूर्ण ब्रह्म से एवं वंचकता कला निधान कल्पना प्रवर्तक से मुक्ति पाने का विश्वास कदापि नहीं करना चाहिए क्योंकि ? अव्यक्त सर्वव्यापक परिपूर्ण ब्रह्म के विद्यमान में ही सकल संसार के सब जीव विकल रहते हैं; इससे यह निश्चय सिद्ध होता है कि सर्वव्यापक ब्रह्म संसार का साधक है, वर्द्धक है संसार का बाधक नहीं है, सर्व कष्टप्रद है ॥ यथाः—

शब्दः—झूठे जनि पतियाहु हो सुनु संत सुजाना । तेरे घट ही में ठग पूर है, मति खोवहु अपाना ॥ झूठे का मंडान है, धरती असमाना । दसौं दिसा वाके फंद है जीव घेरै आना ॥ जोग जाप तप संजमा तीरथ व्रतदाना । नौधा वेद किताव है, झूठे का बाना ॥ काहू के सब्दै फुरै, काहू करामाती, मान बड़ाई ले रहै, हिन्दू तुरुक जाती ! बात व्योंतै असमान की; मुद्दति नियरानी । बहुत खुदी दिल राखते, बूड़े बिनु पानी ॥

पूर्वोक्त जग करतार, काल कराल, दे किमि मुक्ति सो ? ।
वीवेकि सहज सुजान सज्जन, जानहीं यह युक्ति सो ॥
भगवान दें यदि मुक्ति तो, यह सृष्टि रह सक्की नहीं ।
निर्माण करता कृति निज, कर नाश कर सकता नहीं ॥ ११ ॥
जगदीश का यह कार्य है, रचि पालि पुनि संहारता ।
भवचक्र में सम चक्र के, भर्मावता नहिं तारता ॥
निमिष शान्ति न जीव को, अति व्यग्र नाद पुकारते ।
हे दीन वत्सल ! पतित पावन ! शीघ्र हरु मम आरते ॥१२॥

कहँहिं कबीर कासौं कहौं, सकलो जग अंधा । साँचा सो भागा फिरै, झूठे का वंदा ॥ १ ॥ (बीजक शब्द ११३)

दो०—तीन लोक के द्रष्टा कहिये, इच्छारूपी राँड ।
तिनहूँ के भीतर सो निकली, पैठि रही तिहि भाँड ॥ १ ॥
नहीं रोग नहिं रोगी कहते, सत्यवैद्य सो नाम ।
संशय मई विकल फिरै, पूरण ब्रह्म अकाम ॥ २ ॥
(पंचग्रंथी टकसार दो० २७५।२७६)

शब्दः—संतो निरंजन जाल पसारा । स्वर्ग पताल मृत्यु मंडल रचि, तीन लोक विस्तारा ॥ टे० ॥ हरिहर ब्रह्मा को प्रकटायो, तिन्हें दियो शिर भारा । ठांव ठांव तीरथ रचिरोप्यो, ठगवेको संसारा । चौराशी विच जीव फँसावे कबहुँ न होय उवारा । जारि बारि भस्मी करि डारे । फिरि देवै औतारा । आवागमन रहे उरझावे, वोरे भव की धारा । सतगुरु शब्द विना नर चीन्हे, कैसे उतरे पारा ? माया फांस फँसाय जीव सब, आप बने करतारा । सत्यपुरुष का अमरलोक है, ताके मूद्यो द्वारा ॥ नेमधर्म आचार, यज्ञ, तप, ये उरले व्यवहारा । जासे मिले अखंड मोक्ष सुख, सो मारग है न्यारा ॥ काल जाल से बाचा चाहो, गहो शब्द तत् सारा । कहैं कबीर अमर करि राखौं, जो निज होय हमारा ॥ १ ॥
(कबीर संगीत-रत्नमाला शब्द १८)

सुनि श्रवण आरति नाद बूड़त, देखि भ्रम-तम कूप में।
तत्क्षण प्रकट गुरु होहिं, दीन दयाल संत स्वरूप[1] में।
जे श्रीचरण शरणन में हो, तेहि करहिं मोक्ष निमेष में।
अमित जन्म के पंथ सो, पहुँचे विपल निःशेष[2] में ॥१३॥
श्रुति शास्त्र सकल पुराण सम्मत, संत मत निर्धार है।
त्रिय ताप नाशक काल तिहुँ, गुरुदेव ही पद सार है॥
गुरु बिन न होहिं विमुक्त[3] कोउ, सुर असुर मुर नर नाग है।
दायक विशुद्ध विमुक्त इक, गुरुदेव पाद पराग है ॥१४॥

---

१ राग सारंगः—भाग जा के संत पाहुन आवें। द्वारे कथा किरतन करहीं, हिलमिल मंगल गावें ॥ टे० ॥ काम, क्रोध, मद, मान, कल्पना, दुर्मति दूर बहावें। राग द्वेष पर निन्दा तजिके, सत उपदेश दृढ़ावें ॥ प्रथम लाभ चरणोदक लै करि, जो कोई शीश चढ़ावें। कोटिन तीरथ को फल सहजहिं, सो घर वैठे पावें ॥ क्षीर खांड पकवान मिठाई, लखि नहिं हेतु वढावें ॥ रूखा सूखा शाक पत्र अति, हित से भोग लगावें ॥ महाप्रसाद देवन को दुर्लभ, सन्त सदा सो पावें ॥ दुष्ट सदा दुर्मति के घेरे मिथ्या जन्म गमावें ॥ गुरुप्रताप से पूर्व के सुकृत, कर्म उदय हो जावें। कहैं कबीर साधु मूरति धरि, साहेब दर्श दिखावें ॥ १ ॥ (क० सं० श० २६)

२ सा०—साधु दुखी तो गुरु दुःखी, आदि अन्त तिहुँ काल। पलक एक में प्रगट हो, छन में करैं निहाल ॥ १ ॥ कुमति कीच चेला भरा, गुरु ज्ञान जल होय। जनम जनम का मोरचा, पल में डारैं धोय ॥ २ ॥ अगम हता सो गम किया, सतगुरु दिया बताय। कोटि कल्प का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥ ३ ॥

३-दो०—ब्रह्माविष्णु महेश से, जो अधि की ह्वै जाय।
गुरु विनु भवनिधि नहिं तरे, कहत निगम असगाय ॥ १ ॥
(विश्राम सागर)

सर्व मंगल मूल निर्मूलक अमंगल केर हैं।
पल् पाद पंकज ध्यावते, भव भ्रान्ति नश तन देर हैं।
गुरु शब्द ही सब मन्त्र राजा[१], मंत्र गुरु बच केर हैं।
तासों अनन्तन वार नौमि, पदार बिन्द मैं चेर हैं ॥१५॥
गुरु [२]शब्द में ही विश्व सर्वो, कहत श्रुति मति धीर हैं।
विद्या अविद्या सगुण निर्गुण, विसद अर्थ गम्भीर हैं॥
शब्दार्थ श्री शंकर गिरा, गिरि नन्दिनी प्रति गायऊ।

१-श्लो०—मन्त्रराज मिदं देवि! गुरुरित्यक्षर द्वयम्। श्रुतिवेदान्त वाक्ये न गुरुः साक्षात्परं पदम्॥ १॥ (गु० गी०)

टीका—शिवजी कहते हैं कि, हे गिरिनन्दिनी! (देवि!) "गुरु" ये दोनों अक्षर सब मन्त्रों से श्रेष्ठ हैं, श्रुति और वेदान्त वाक्य द्वारा यही निश्चय किया गया है कि, गुरु ही साक्षात् परमपद हैं॥ १॥

२ टिप्पणी—गुरु शब्दार्थ।

श्लो०—गु शब्दस्त्वन्धकारेस्याद्रु शब्दस्तन्निरोधकः अन्धकार निरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥ १॥

टीका—गु शब्द का अर्थ अन्धकार और रु शब्द का अर्थ तम का नाश करता है, इस कारण जो अज्ञान को नाश करते हैं वही गुरु शब्द वाच्य हैं॥ १॥

भावार्थ—"गु" अन्धकार अज्ञान का वाचक है। वस्तु में अवस्तु के भान होने का नाम अज्ञान है। वह अज्ञान ज्ञान शक्ति युक्त और क्रिया शक्तियुक्त भेद करके दो प्रकार का है। रज-गुण-तमगुण रहित सत्त्वगुण को ज्ञान शक्तियुक्त अज्ञान कहते हैं। और क्रिया शक्तियुक्त अज्ञान आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति भेद करके दो प्रकार का है, रजोगुण और सत्त्वगुण से रहित तमोगुण को आवरण शक्तियुक्त अज्ञान कहते हैं। तमोगुण और सतोगुण रहित केवल रजोगुण को विक्षेप शक्तियुक्त अज्ञान कहा जाता है। (वेदान्तसार सूत्र ३)

अथवा—अज्ञान माया और अविद्या भेद से दो प्रकार का है। माया "विद्या" अर्थात् ज्ञान का नाम है और "अविद्या" भ्रमात्मक-भ्रम मात्र को कहते हैं। अर्थात् अनित्या शुचि दुःखात्मसुनित्य शुचि सुखात्म-ख्यातिरविद्या" (योग दर्शन साधन पाद सूत्र ५)

टीका—जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है। और योगवल से यही देवों का शरीर सदा रहता है। वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है, अशुचि अर्थात् मलमय स्त्री आदि के और मिथ्या भाषण चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा। अत्यन्त विषय सेवन रूप दुःख में सुख बुद्धि आदि तीसरा। अनात्म में आत्म बुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है।

इससे विपरीत अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य। अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र। दुःख में दुःख और सुख में सुख, अनात्म में अनात्म और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात् "वेत्तियथावत्तत्त्व पदार्थ स्वरूपं यया सा विद्या। यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्य-स्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या अर्थ जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवै वह विद्या और जससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्य बुद्धि होवै, वह अविद्या कहाती है॥ अथवा—माया समष्टि के तीन रूप हैं। कारण १ सूक्ष्म २ और स्थूल ३। कारण को ईश्वर सूक्ष्म को हिरण्यगर्भ और स्थूल को विराट कहते हैं। अथवा—अव्याकृत १ वैश्वानर २ और सूत्रात्मा या शिव, विष्णु और ब्रह्मा या त्रियदेव भी इन्हीं को कहते हैं।

अविद्या व्यष्टि के भी ३ रूप हैं १ कारण २ सूक्ष्म ३ स्थूल १ कारण को प्राज्ञ २ सूक्ष्म को तैजस ३ और स्थूल को विश्व कहते हैं। विद्या युक्त "चैतन्य" को ईश्वर और "अविद्या युक्त "चैतन्य" को जीव कहा जाता है। त्रिविध अहंकार युक्त होने से जीव का भी तीन स्वरूप मान्य है।

अथवा—समष्टि अज्ञान और व्यष्टि अज्ञान ऐसे दो प्रकार का अज्ञान है। इस अज्ञान को समष्टि रूप (एक) और व्यष्टिरूप (अनेक) वोल कर व्यवहार किया जाता है। जैसे वृक्षों के समूहों को समष्टि रूप (एक) वन ऐसा वोलते है। तथा जल के समूहों को समष्टिरूप (एक) जलाशय (तालाव) वोलते हैं। इसी प्रकार विभक्ति और विराजित जीवों के अज्ञान के समूहों को समष्टिरूप (एक) अज्ञान शब्द से वोलते हैं। श्रुति में कहा है: "एक ही अज्ञान समष्टिरूप उत्कृष्ट उपाधि विशिष्ट (युक्त) है। इसी कारण इसमें विशुद्ध सत्त्वगुण प्रधान है। इस अज्ञान से उपहित (युक्त) हुआ "चैतन्य" स्वरूप ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अव्यक्त अन्तर्यामी जगत्कारण और ईश्वर, इन शब्दों से व्यवहार किया जाता है। जो सम्पूर्ण अज्ञान के प्रकाश का हेतु है। वही सर्वज्ञ है। श्रुति में भी कहा है जो जगत् को सामान्य और विशेषरूप से जानता है वह सर्वज्ञ है।।"

ईश्वर की उपाधि स्वरूप यह अज्ञान समष्टि प्रपंच ब्रह्माण्ड का कारण है। इसी कारण इसको कारण शरीर कहते हैं। आनन्द के आधिक्य होने से और कोष की तरह आच्छादक होने से आनन्दमय कोष भी कहते हैं। यह शरीर ही सम्पूर्ण इन्द्रियों के उपराम का स्थान होने से सुषुप्ति कहाता है। इसी कारण इसको स्थूल और सूक्ष्म प्रपंच का लय स्थान कहते हैं। जिस तरह वन के सव वृक्षों को अलग अलग ग्रहण करने से उनको अनेक वृक्षों द्वारा व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार जलाशय के जल व्यष्टि भाव से अनेक जल प्रणति होते हैं। इसी प्रकार नाना प्रकार के विराजमान्य जीव समूह के अज्ञान को व्यष्टिरूप से अनेक व्यवहार करते हैं। श्रुति ने भी कहा है, ईश्वर नाना प्रकारों की मायाओं के द्वारा नानारूप धारण करता है।"

इस स्थल में ईश्वर को प्रत्येक जीव व्यापी होने से समष्टिरूप जानना। (वेदान्तसार सूत्र १६।१७) इस प्रकार ईश्वर और जीव की दोनों उपाधियों को कार्य और कारण रूप से दोनों अज्ञान ही समझना चाहिये।

श्लोः—माया सुयुतं ब्रह्म महेश्वरं बुधांजीवं समेतं चवदंत्यविद्या ॥
नैवांतरं किंचिदुपाधिमंतरा सम्यग्विचारेण तयोस्तु लभ्यते ॥ १ ॥ (वि० दी० ७३)

टीका—माया शक्ति करके संयुक्त जो सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है तिसकूं (बुधाः) विद्वान लोग ईश्वर कहते हैं और (अविद्या) कहिये सोई ब्रह्म जो अविद्या संयुक्त है तिसको जीव कहते हैं। (वेदान्तशास्त्र के अनुसार विद्या अविद्या भेद के अतिरिक्त ईश्वर, जीव में कुछ भी भेद (अन्तर) नहीं है ॥ (विचार दीपक ७३) यहां तक "गु" अंधकार (अज्ञान) का वर्णन हुआ आगे "रु" प्रकाश का भावार्थ।

"रु" शब्द प्रकाश (तेज) ज्ञान का वाचक है; क्योंकि विना प्रकाश के तम का विनाश (निरोध) कदापि नहीं होता है। इस कारण "रु" प्रकाशज्ञान का वाचक है। अनर्थ की निवृत्ति और तत्त्व पद की स्मृति का नाम ज्ञान है। सो परोक्ष और अपरोक्ष भेद से ज्ञान भी दो प्रकार का है (१) परोक्ष तिस में पूर्ण ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ब्रह्म से आत्मा भिन्न है यह परोक्ष ज्ञान है। (२) दूसरा निर्विकल्प "ब्रह्म मैं हूँ" ऐसे अनुभव से अभेद जानने को साक्षात्कार कहिये अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं ॥ १ ॥

गुरु शब्दार्थ का २ श्लोक।

श्लो०—गुकारः प्रथमोवर्णो मायादि गुण भासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्ममाया भ्रान्ति विमोचकः ॥ २ ॥

टीका—गुरु इस शब्द के प्रथम वण (गु) से मायादि गुण प्रकाशित होते हैं और द्वितीय वर्ण (रु) से ब्रह्म में जो माया का भ्रम (त्रिगुण) है उसका नाश होता है। इस कारण (गु) सगुण और (रु) निगुण अवस्था को प्रतिपन्न करके गुरु शब्द वना है, भाव यह है कि (गु) त्रिगुणसहित माया का प्रतिपादक है और (रु) मायासहित भ्रांति (त्रिगुण) का प्रध्वंसक है ॥ २ ॥ (गुरु शब्दार्थ ३ श्लोक)

"गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारः शंभुरित्युक्त स्तृतीयात्मा गुरुः स्मृतः ॥ ३ ॥

(गुरु गीता १५।१६।१७)

टीका—गकार का अर्थ सिद्धदाता और रकार का अर्थ पाप हर्ता और उकार का अर्थ शिव है अर्थात् सिद्धदाता और पापहर्ता शिव (ब्रह्म) है। ऐसा अर्थ ग–उ और र–उ के वोधक गुरु शब्दार्थ से समझना उचित है। इति गुरु शब्दार्थ ॥

पूर्वोक्त शब्दार्थ के विशुद्ध विवेक द्वारा विचारने से, अगुण-सगुण (निर्गुण-सगुण) दोनों का वोधक दोनों का प्रवर्तक-प्रकाशक दोनों से युक्त गुरु शब्दार्थ निश्चय सर्वमान्य सिद्ध होता है। दोनों का भिन्न (पृथक) निर्णय कर्ता नहीं। इसी कारण परमतत्त्व वेत्ताओं ने "सत्" शब्द विशेषण युक्त (सद्गुरु) विशुद्ध शब्द निर्सन्देह स्वयं सिद्ध परमप्रशान्त स्व स्वरूप प्रवर्तक-मोक्षप्रद परमसिद्धान्त सर्वमान्य समझते हैं। इसलिये सर्वोपरि निर्विवाद मोक्षप्रद सर्वप्रिय मान्य "सद्गुरु" देव ही सिद्ध होते हैं अपर कोई नहीं। जैसेः—

श्लो०—गुरवो वहवः सन्तिशिष्य वित्ताप हारकः ।
दुर्लभोस्सद्गुरुर्देवि । शिष्यसन्तापहारकः ॥ १ ॥

(गुरु गीता)

टीका—उक्त सन्देह ही पर दृष्टि करिके देवाधिदेव श्री महादेव जी ने पार्वती जी के प्रति निर्णीत विशुद्ध मोक्षप्रद का निर्णय-विवेचन किया था। श्रीमहादेव जी कहते है कि, हे देवि! (पार्वती)! कलियुग में शिष्य का धन हरण करनेवाले गुरु वहुत होंगे परन्तु शिष्य के सन्ताप (जन्म-मृत्यु) हारी "सद्गुरु" दुर्लभ होंगे ॥ १ ॥

श्लो०—सद्गुरोः कृपया लभ्यं ज्ञानं सर्वस्वात्मतमः । (नारद गीता१)

टीका—श्रीविष्णु भगवान कहते हैं कि, हे नारद जी! सद्गुरु की कृपा से पुरुष को आत्मा का सम्पूर्ण धन रूप ज्ञान मिलता है ॥

श्लो०—सर्ववेदान्त सिद्धान्त गोचरं तम गोचरम्। गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥ (विवेकचूडामणिः १)

अर्थ—श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं कि, सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र का जो सिद्धान्त वाक्य है, उस वाक्य का विषय और इन्द्रियों का अगोचर परमानन्द स्वरूप (सद्गुरु) गोविन्द स्वामी को नमस्कार करता हूँ ॥१॥

श्लो०—दुर्लभो विषयः त्यागो दुर्लभोतत्त्व दर्शनम्। दुर्लभा सहजाऽवस्था सद्गुरोः करुणाविना ॥ १ ॥ (महोप० ४७७)

टीका—विषयों का त्याग होना दुर्लभ-अलभ्य है, तथा जीव की (सहज) असल दशा (अवस्था) प्राप्ति दूर (कठिन) है, तब तक की जब तक (सद्गुरु) सद्बोध प्रवर्तक की करुणा-दया नहीं होती है ॥१॥

"सद्गुरु मुखे समझि ले जो तो ब्रह्म सुखपामे आजो" (पंचीकरण चौपाई ४)

दो०—टेरत सतगुरु मया करि, मोह निन्द सोवन्त।
जग्यो ज्ञान लोचन खुलै, सुपनो भ्रम विसरन्त ॥ १ ॥
(विचार माला वि० १।७)

"सद्गुरु मिले ते जाहिं जिमि, संशय भ्रम समुदाय" "सद्गुरु करणधार दृढ़ नावा" "सद्गुरु वैद्य बचन विश्वासा" (रा० कि० उ०)

उपर्युक्त वजह से ही देशि केन्द्र सद्बोधप्रवर्तक सद्गुरु कबीर साहिब का निर्णीत सिद्धान्तसार उपास्यदेव सर्वमान्य (सद्गुरु देव ही हैं) यद्यपि आप सर्वोद्धारक अन्तिम सिद्धान्त प्रवर्तक होने के कारण प्रत्येक विषयों (सिद्धान्तों) पर प्रकाश डारते हुए अग्रसर हुए हैं। जैसा आप का वचन है "कहैं कबीर हम काया सोधा। जो जस समझे तेहि तस बोधा॥" के अनुसार इसका तात्पर्य्य है विमुखियों को सारसिद्धान्त (तत्व) के अभिमुख करने का ही।

यद्यपि आपका निर्विवाद-निर्विघ्न सर्वमान्य चूडान्त-चरमलक्ष्य सिद्धान्तशिरोमणिसार (शब्द) सदुपदेश यही है "सद्गुरु के पांद-पद्म में विलीन

होना या आत्मनिवेदन करना ही वास्तविक मानवीय कर्तव्य है। इसी से गमनागमन (जन्म-मृत्यु) की सर्वथा निवृत्ति और स्वानन्द की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा अनन्त प्रयत्नों से नहीं। जैसा आपके वचन हैं ॥

"मुक्ति न होय नाचे अरु गाये। मुक्ति न होय मृदंग वजाये ॥ मुक्ति न होय साखी पद वोले। मुक्ति न होय तीरथ के डोले ॥ गुप्त नाम जाने जो कोई। कहैं कवीर मुक्ति भलि सोई ॥ (मुक्ति माला)

सा०—कोटि नाम संसार में, तातें मुक्ति न होय।
आदि नाम जो गुप्त जप, बूझे विरला कोय ॥ २ ॥
राम राम सव कोइ कहे, नाम न चीन्है कोय।
नाम चीन्हि सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोय ॥ २ ॥
ओंकार निश्चय भया, सो करता मत जान।
सांचा सवद कवीर का, परदे में पहिचान ॥ ३ ॥
जो जन होइहैं जौं हरी, रतन लेहिं विलगाय।
सोहं सोहं जपि मुआ, मिथ्या जनम गँवाय ॥ ४ ॥

(साखी ग्रंथ)

प्र०—आपका गुप्त आदि नाम कौन सामान्य है ?

उ०—जो सर्वनामों का जनक (उत्पन्न कर्ता) सर्वनामों का निर्माता सर्वनामों का रचयिता सर्वनामों का (मूल) सब नामों को धरने वाले उन्हें स्पष्ट कहते हैं:—

सा०—जेहि खोजत ब्रह्मा थके, सुरनर मुनि अरु देव।
कहैं कवीर सुन साधवा, करु सतगुरु की सेव ॥ १ ॥
सो०—विन सतगुरु उपदेश, सुरनर मुनि नहिं निस्तरे।
ब्रह्मा विष्णु, महेश, और सकल जीव को गनै ॥ २ ॥
सा०—केतिक पढि गुनि पचि मुवा, योग यज्ञ तप लाय।
विनु सत गुरु पावै नहीं, कोटिन करै उपाय ॥ ३ ॥

सो०—करो छोड़कुल लाज, जो सतगुरु उपदेश है।
होय तवै जिव काज, निश्चय कै प्रतीत करु ॥ ४ ॥
सतगुरु खोजो सन्त, जीव काज जो चाहहू।
मेंटौ भव को अंक, आवागमन निवारहू ॥ ५ ॥
विनवै दोउ कर जोर, सतगुरु वन्दी छोर हैं।
पावै नाम की डोर, जरा मरन भव जल मिटै ॥ ६ ॥
सत्य नाम निज सोय, जो सतगुरु दया करैं।
और झूठ सव होय, काहें को भरमत फिरै ॥ ७ ॥
सा०—सतगुरु शरन न आवहीं, फिरि फिरि होय अकाज।
जीव खोय सव जाहिंगे, काल तिहूँ पुर राज ॥ ८ ॥
सो०—जो सत नाम समाय, सत गुरु की परतीत कर।
यम कै अमल मिटाय, हंस जाय सत लोक महँ ॥ ९ ॥

किन्तु सद्गुरु के पद-पंकज में विलीन होने का अधिकार उसी का है कि जिसमें "गुरु भक्ति का पूर्ण वल है। यथाः—

श्लो०—लभेतत्त्वं धनं यस्य ,गुरु भक्ति वलेन च।
तस्य कर्मांणि नश्यन्ति पूर्वाण्येव पराणि च ॥ १ ॥

(ब्रह्मनिरूपण)

टीका—उन सार (शब्द) तत्त्वरूपी (सद्गुरु) धन को वही मुमुक्ष (अधिकारी) प्राप्त करने योग्य है कि जिसको गुरु भक्ति का वल पूर्णरूप से प्राप्त हो, उसके पूर्व जन्म तथा पर जन्म के जो शेष कर्म हैं उनका भी नाश हो जाता है। जव कर्म नाश होगा तव मोक्ष प्राप्त होगा ॥१॥

सा०—ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति विस्वास।
गुरु से वातें पाइये, सद्गुरु चरन निवास ॥ १ ॥

टीका—ज्ञान समागम (ज्ञान प्राप्त) ज्ञान सम्मिलित और प्रेम-सुख (शान्ति) चैतन्यात्मा-दीन-दुखित पर दया-कृपा भक्ति और परलोक शुद्धात्म पर पूर्ण विश्वास ये सव श्रीगुरुदेव की सेवा ही के प्रभाव से "सद्-

गुरु-सत्पुरुष के पद-पंकज (चरण) में सदा के लिये निवास (परम-मोक्ष) होता है ।। १ ।।

सा०—अवरण वरण अमूर्त्त जो, कहो ताहि किन पेख ।
गुरु दया तें पावई, सुरति निरति करि देख ।। ११ ।।

टीका—जो विना रंग-रूप अर्थात् नाम रूपात्मिका माया से परे नाम रूप से रहित (निराकार) और श्वेत, पीतादिरूप से भिन्न तथा अवर्ण-वाणी का अविषय (अवाच्य) उस शुद्ध शान्तात्मा निरन्तरात्मा (स्वात्मा) को कोई चर्म-दृष्टि से कैसे देख सकता है, और अवर्ण को वचन से कैसे वर्णन कर सकता है अर्थात् न कोई इस नेत्र से देख ही सकता है न वचन से ही वर्णन हो सकता है किन्तु करुणा वरुणालय श्रीगुरुदेव की दया से दिव्य-दृष्टि (विवेक दृष्टि) से साक्षात्कार हो जाता है और अवर्ण को भी विना-मुख से ही वर्णन करने की शक्ति हो जाती है, विनु वाणी वक्ता वड़ योगी'' के अनुसार क्योंकि सुरति (शुद्ध स्मृति) शुद्ध स्वात्मा के ध्यान से ''नृत्य'' नृत्त करने से सर्वशक्तिमान् हो जाता है ।। २ ।। अर्थात् यह श्रीगुरुदेव की अद्भुत शक्ति से प्रभावित हो के शिष्य स्वप्रकाश स्वरूप हो जाता है। तव यह अवस्था प्राप्त होती है। जैसे:—

चौ०—सूझहिं राम चरित मणिमाणिक। गुप्त प्रकट जहँ जो जेहि खानिक ।। (रा० वा०) और दो०—हृदय दृष्टि निर्वाण जव, गुरु सरोज पद लीन (द्रवै काम मोहादि सं, जव गुरु दाया कीन ।।'' (ज्ञान-सम्वोध'') तथा

''विनु दर्पण दर्शय निज रूपा। धर्मनें यह गुरुगम्य अनूपा ।।''

के अनुसार। इस कारण ही गुरु के प्रभाव वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है। जैसा कहा गया है:—

सा०—गुरु की महिमा को कहै ? शिव विरंचि नहिं जान।
गुरु सद्गुरु को चीन्हि के, पावै पद निरवान ।। १२ ।।

सब धरती कागद करूं, लिखनी सब वन राय।
सात समुद्र की मसि करूं, गुरु गुन लिखा न जाय ॥ १३ ॥
(साखी ग्रन्थ)

इत्यादि इस कारण पूर्वोक्त श्रीगुरुदेव की सेवा का भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि गुरुदेव ही सगुण-निर्गुण का प्रवर्तक और दोनो से भिन्न (सद्गुरु) पद प्रदर्शक भी हैं। इसलिये आप ही अगुण-सगुण का प्रवर्तक और साक्षी भी हैं। गुरुदेव ही सद्गुरु देव की प्राप्ति व मोक्ष का कारण हैं। इसलिये यह सिद्धान्त सर्वप्रिय मान्य है।

श्लो०—न विना ज्ञान विज्ञाने मोक्षस्याधि गमो भवेत्।
न विना गुरु सम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ॥ १ ॥
(म० भा० शां० अ० १७५।४६)

टीका—विना ज्ञान विज्ञान (परमज्ञान-स्वानुभव गम्यज्ञान) के प्राप्त से मोक्ष जाना नहीं जाता और विना समीचीन (सद्गुरु) सच्चे गुरु के सम्बन्ध के ज्ञान-विज्ञान का वोध (ज्ञान) नहीं होता है ॥ १ ॥ इसलिये गुरु की विशेष आवश्यकता है। क्योंकि—

सा०—यह तन विष की वेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान ॥ १४ ॥

प्र०—तव तो सब लोग ही गुरु-से मिलते-गुरु धारण करते हैं, फिर संसार बन्धन से सबको विमुक्त होनें में क्या सन्देह है ? ।

उ०—अवश्य सब लोक गुरु से मिलते हैं पर गुरु से नहीं मिलते हैं, असंख्यनों में कोई एक ही गुरु से मिलता है जो पुण्य पुञ्ज होता है विशेष लोक काल ही से मिलते हैं। यथाः—

सा०—गुरु मूरति आगे खड़ी, अन्धहिं सूझत नाहिं।
वा को गुरु-मुख को कहे, गुरु से परिचे नाहिं ॥ १५ ॥

के अनुसार तव "गुरु" से मिले हुए का लक्षण धर्म क्या है ?

उ०—उनके लक्षण-धर्म्म से निश्चय होता है कि वे अवश्य गुरुदेव से मिले हैं। यथाः—

सा०—गुरु मिला तव जानिये, मिटै मोह तन ताप।
हरष सोक व्यापे नहीं, तव गुरु आपे आप ॥ १६ ॥
गुरु मिला तव जानिये, सुमता समिता होय।
सव प्रानिन की आत्मा, लखे एक सी-सोय ॥ १७ ॥
सूरा सीस उतारिया, छाडी तन की आस।
आगे से गुरु हर्षिया, आवत देखा दास ॥ १८ ॥
जव मैं था तव गुरु नहीं, अव गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी, तामें दो न समाहिं ॥ १६ ॥
पीया चाहै प्रेम-रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खडग, देखा सुना न कान ॥ २० ॥
कवीर हम गुरु रस पिया, वाकी रही न छाक।
पाका कलस कुम्हार का, वहुरि न चढ़सी चाक ॥ २१ ॥

(साखी ग्रन्थ)

उपर्युक्त ही लक्षण युक्त शिष्य गुरुदेव से मिला हुआ माना जा सकता है। अपर नहीं उनमें यह अवस्था अवस्थित होती है।

"कहन सुनन कछु नहीं, नहीं कछु करन है। जीते ही मरि रहै, वहुरि नहिं मरन है ॥

"लखिये अपने रूप को थीर भया सव अंग।
कहन सुनन कछु नहिं रही, ज्यों का त्यों ही संग ॥ १ ॥

(तीसा यंत्र)

इसी अवस्था को कीट भृंग न्याय कहते हैं ॥ यथाः—

श्लो०—भृंगी भवन्तीहयथैव कीटाः। ध्यानेन भृङ्गस्य गुरोस्तथैव। तत्तुल्य रूपाश्च भवन्ति शिष्याः। सदा गुरुं तं मनसास्मरामि ॥१॥ (भक्ति पुष्पाञ्जलिः ६।१७)

टीका—जैसे इस संसार में कीट भृङ्ग के ध्यान से भृङ्ग स्वरूप हो जाते हैं ठीक उसी तरह श्रीसद्गुरु के ध्यान से शिष्य वर्ग भी गुरुरूप हो जाते हैं। उन सद्गुरु को मैं मन से स्मरण करता हूं ॥ १ ॥

ह० छ०:—गुरु सर्व[१] आदि अनादि निज, गिरजा सुनत सुख पायऊ ॥ १६ ॥

सद्गुरुदेव की वन्दना

दो०—ताते सद्गुरुदेव ही, सर्व ध्येय सब मान।
तीन काल तिहुँ लोक में, दायक स्वात्म ज्ञान ॥ ५ ॥

इसी अवस्था को अनिर्वचनीय, निःअक्षर, अनिर्वाच्य, अनिर्देश, अकथ्य अनुभवगम्य और स्वसंवेद आदि कहते हैं। इसी का परिणाम स्वरूप "सद्गुरु" देव कहे गये हैं। जिनके विना परमपद सर्वथा अप्राप्त रहता है। यथा शब्द।

विनु सतगुरु नर फिरत भुलाना ॥

इकके हरिसुत लाय गडेरिया। पाल पोस के किया सयाना। रहत अचेत फिरत अजयन संग, आप न हाल कछू नहिं जाना ॥ इकके हरि सुत आय जंगल से, देखत ताहि वहुत सकुचाना। पकड़न भेद तुरत उन दीन्हा आपन दशा देख मुसकाना ॥ मिरगा नाभि वसे कस्तूरी, यह मूरख ढूंढत चौगाना। करत शोच पछतात मनहिं मन, यह सुगन्धी कहाँ से आना ॥ अर्ध-उर्ध वीच डोरी लागी, रूप लखा नहिं जात वखाना। कहैं कवीर सुनो भाई साधो, जाको सुरनर मुनि धरे ध्याना ॥ १ ॥ इत्यादि ॥

१ टि०—श्लो०—गुरोरादिरनादिश्च गुरुः परमदैवतम्। गुरोः परतरं नाऽस्ति तस्मै श्रीगुरवेनमः ॥ १ ॥ (गु० गी० १६५६)

टीका—गुरु ही सव के आदि हैं उनसे आदि कोई भी नहीं है (आप अनादि हैं) गुरु ही देवताओं के देवता हैं, गुरु से श्रेष्ठ कोई भी नहीं ऐसे श्रीगुरुदेव को नमस्कार है ॥ १ ॥ (१५६९)

दो०—गुरु विनु भ्रम लगि भूसिया, भेद लहे विनु स्वान।
केहरि वपु झांई निरखि, पर्यो कूप अज्ञान ॥ १ ॥
(विचार माला वि० ८)

सद्‌गुरु सत्य कबीर के, प्रणमौं चरण सरोज ।
वार अनन्त अनन्त रुचि, श्वांस-श्वांस प्रतिरोज ॥ ६ ॥
पदाम्भोज नख ध्याव ते, प्रकटे ज्योति अनन्त ।
तत्कालहिं उर अन्तरे, भ्रम-तम-ध्वन्त को अन्त ॥ ७ ॥

भ्रम छोडाय पथविकट जिन्ह, स्वात्म निकट लखाय ।
करुणा कन्द निकन्द अघ, हंस लेहिं मुक्ताय ॥ ८ ॥
सद्‌गुरु सत्य कबीर प्रभु, श्रीप्रह्लाद स्वरूप ।
ममकर गहि अपनायऊ, मोक्षद अगम अनूप ॥ ९ ॥
प्रणमौं प्रभुपद-पद्मको, पद पराग धरि भाल ।
दृग श्रुतिकंठ हृदय धरूं जो नाशक भवजाल ॥ १० ॥

मंगल मय मंगल सदन, मंगल प्रद शुचिसार ।
पद पराग मम उर जलज, अविचल करहु अगार ॥ ११ ॥
जिन पद-पंकज के नमे, सब पद वँन्दन होय ।
मन कर्म्म बाणी से सदा, सद्‌गुरु पद नमो दोय ॥ १२ ॥

ज्यों जननी की पुष्टि से, गर्भ को अर्भक पुष्ट ।
त्यों सद्‌गुरु-पद सेवते, सकल सुरासुर तुष्ट ॥ १३ ॥
तमा अविद्या तिमिर दलि, जनमन करहिं प्रबुद्ध ।
तजि संकल्प-विकल्प भव, हो मन विमल विशुद्ध ॥ १४ ॥

मत्तगयन्द सवैया ।

सद्‌गुरुदेव पदाम्बुज को, प्रणमो प्रतिश्वांस अनन्तन वारा ।
हंस मयंक अनन्ततुलैनहिं, है नख-भास असीम अपारा ॥
जाहि प्रदर्शि तमा-तम दूर, होवै चकचूर मोहादि विकारा ।
अन्तःकरण मनोबुधि चित्त, समूल विनष्ट होवै अहंकारा ॥१॥
ह० छं०—जिन्ह चरण नख-द्युति ध्यावते, मनमुदित बसे उर अन्तरे।
निज चंचला-सी चपलता तजि, सतत रहे पर तंतरे ॥

यथा व्याल कराल विष तजि, शान्त हो सुनि[१] मंतरे।
तथा मन गत विषमता, सद्धर्म रत अभ्यन्तरे ॥१७॥

खगनाथ दर्श स्पर्शते, बिन प्राणवत् अहिवर यथा।
ज्यों गजेन्द्र मृगेन्द्र निरखत, कम्प गात विकल तथा॥
मंजार ऊपर दृष्टि परतहिं, मूसनों की गति यथा।
सद्गुरु सरोरुह चरण दर्शित, दीनमन होवहिं तथा ॥१८॥

रवि दर्शते आदर्श में, उद्योत पावक[२] हो यथा।
शिष्य के उर में उदय, अनुभव अमल होवै तथा॥
हर्ष तथा विषाद से, बहे नीर धारा नयन में।
तथा प्रेम-प्रवाह प्रचलित् शिष्य उर गुरु सैन में ॥१९॥

शशि दर्शते विधुकान्ति मणि[३] में, अमीधारा द्रवति ज्यों।
सद्गुरु चरण-नख दर्शते, उर ज्ञान अमि है द्रवत त्यों॥
दिन कर विलोकत कंज विकशै, कुमुदिनी लखि चन्द्रज्यों।
सद्गुरु चरण-नखदर्शते, प्रफुल्ल अन्तः करण त्यों ॥२०॥

सरिक सरितन द्वार सेजा, हो उदधि में शांत ज्यों।
सद्गुरु पदाब्ज विलोकते, चित् चपलता गति शांत त्यों॥

---

१ सा०—फन पति जैसे मन्त्र सुनि, राखे फनहिं सकोर।
तैसे वीरा नाम से, काल रहे मुखमोर ॥ १ ॥
(सा० ग्रं०)

२ दो०—सूर्य दर्श आदर्श ज्यों, होति अग्नि उद्योत।
तैसे गुरु प्रसाद से, अनुभव निर्मल होत ॥ १ ॥
(वि० वि० १।१०)

३ दो०—जिमि चन्द्रहिं लहि, चन्द्रमणि, अमी द्रवत् तत्काल।
गुरुमुख निर्खत शिष्य के, अनुभव होत विशाल ॥ १ ॥
(वि० वि० १।११)

प्रतिविम्बवत् मन मौनता गहि, शान्त अविचल ध्यान में।
स्वात्मस्वरूप विशुद्ध में मिलि, मग्न रहत स्वज्ञान में ॥२१॥
मेधाविलीन निवृत्ति में, निज चित्रवत् व्रत धारि के।
सद्‌गुरु चरण-नख दर्श करि, स्वचपलताई विसारि के॥
अहंकार विगत प्रमाद अविचल, जग असार निहारि के।
विस्मृति देहरुगेहकी, सद्‌गुरु चरण उरधारि के॥२२॥
मोह ममता विगत हो, निर्मोह व्रत दृढ धारई।
क्षणभंगु सकल प्रपंचलखि, भ्रम मात्र समझि विसारई॥
सद्‌गुरु कृपालु सरोज पद, नख-निमिष रोकि निहारई।
शान्ति, समिता, शीलता, शुचि क्षम्यता दृढ धारई॥२३॥
कामांदि सकल विकार, निज-निज विषयविषमविसारिके।
हों लीन सद्‌गुरु चरण में, अति दीनता उर धारि के॥
वीवेक, ज्ञान, विचार, धैर्य, गम्भीरता सव ध्याय के।
आवहिं सहज उर अन्तरे, सद्‌गुरु चरण मुद पायके॥२४॥
कीट भृङ्गी सरिस होवै, भृङ्ग संगति पाइ के।
समशील वरण समत्त्व हो, प्रकृति विषय नशाय के॥
नहिं कीट जानहिं [१]भृंग को, वह आप सरिस बनावहीं।
सद्य वरण अकार पलटि, सकार विषय नशावहीं॥२५॥
तथा सद्‌गुरु सद्य पलटहिं[२], शिष्य की प्रकृत्ति को।
समशीलता दै धैर्यता, निर्मूल विषय स्मृति को॥

---

१ सा०—गुरु को कीजै दंडवत्, कोटि कोटि परनाम।
कीट न जनै भृंग को, (गुरु) करिहै आप समान॥ १ ॥
(सा० ग्रं० १)

२ मनहर छंदः—लोहकूं ज्यों पारस, पषानहू पलटि लेत, कंचन छूवत होत, जगमें प्रमानिये॥ द्रुम कूं ज्यूं चन्दन पलटही लगाय बास, आपके समानता कूं, शीतलता आनिये॥ कीट कूं ज्यों, भृंगिहु पलटि के करत

मुदिता, क्षमा, सन्तोष, समिता, विनय, शुचिनिर्दीनता ।
ज्ञान, ध्यान, विवेक, सत् से, हरहिं सकल मलीनता ॥२६॥
सद्धर्म देहिं अशेष लेष, क्लेशऽधर्म न राखहीं ।
निर्भ्रान्त हंस विशुद्ध, नित्यानन्द अमृत चाखहीं ॥
विसद शान्त अखंड उर दृग, दिव्य दर्श दिखावहीं ।
सद्गुरु कृपामय पाद-पद्म; परागजे [१]दृग लावहीं ॥२७॥
ध्यान मूलं गुरू[२] मूरति, अर्चना गुरु-पाद ही ।
मन्त्र मूल गुरोर्वाक्यं, मोक्ष कृपा प्रसाद ही ॥
इस हेतु श्रुति स्मृति सज्जन, बुध धिवर सब ध्यावहीं ।
सद्गुरु कृपालु सरोज-पाद, विशुद्ध मोक्षद गावहीं ॥२८॥
इक साधने से सब सधे, सब साधते सब जात हैं ।
ज्यों मूल सींचे वृक्ष के, फल-फूल पाय अघात हैं ॥
द्रुम मूल सींचन के विना, सब शखा पत्र सुखात हैं ।
है प्रत्यक्ष प्रमाण यह, सब विश्व में विख्यात हैं ॥२९॥
सद्गुरु कृपा-मय कृपा विनु, नहिं तुष्ट करुणा पात्र हैं ।
निष्फल समस्त सुसाधना, शिरभारही श्रम मात्र हैं ॥

भृंग, सोउ उडि जाथि ताको, अचरज मानिये । सुन्दर कहत यह सगरे प्रसिद्ध वात, सद्य शिष्य पलटै सो, सद्गुरु जानिये (सु० वि० १४)

१ चौ०—गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमियदृग दोष विभंजन ॥ १ ॥ (रा० वा०)

२ श्लो०—ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजा मूलं गुरोः पदम् ।
मंत्र मूलंगुरोर्वाक्यं मोक्ष मूलं गुरोः कृपा ॥ १ ॥
(गु० गी० १६०)

टीका—गुरु-मूर्त्ति ध्यान ही सब ध्यानों का मूल है, गुरुके चरण कमल की पूजा ही सब पूजाओं का मूल है; गुरुवाक्य ही सब मन्त्रों का मूल है और गुरु की कृपा ही मुक्ति प्राप्त करने का प्रधान कारण है ॥ १ ॥

इस हेतु सद्‌गुरुदेव ही, आराध्य देवन मूल हैं।
अगुण-सगुण स्वरूप बोधक, हरत सब भवशूल हैं ॥३०॥
आदि मध्यवसान के, भ्रमभेद, भाव दिखावहीं।
गुप्त-प्रकट यथार्थ बोध, विवेक दृग[1] दर्शावहीं॥
त्रैलोक तीनों काल में, कल्पित् कला जो काल की।
सो समग्र विनाशहीं, सीमा न कृपा विशाल की ॥३१॥
हे ! हे ! कृपामय दीन-वत्सल याद है मुझ दास की ?।
हो तो विलोको कृपा करि जिमि, हो न गति उपहास की॥
मुझ-से पतित कोउ अपर भी ? जेहि पूत करन पधारेऊ ?।
इतनी विलम्ब कहाँ हुई ?, किमि उर निठुरता धारेऊ ॥३२॥
सार सब सिद्धान्त का, पीयूष सद्‌गुरु देव हैं।
मर्मज्ञ सब सिद्धान्त का, आपे प्रवर्तऽभेव हैं ॥
इस हेतु सज्जन वृन्द संतत्, ध्यावते सब देव हैं।
सेव्य सद्‌गुरुदेव बिनु, नहिं शमन-शमन हमेव हैं ॥३३॥
इस हेतु हे करुणारणो !, करुणा कटाक्ष विलोकिये।
लीजिये चरणन शरण में, दीनता औलोकिये ॥
आप बिनु को अपर रक्षक ?, अभय मोक्ष प्रदात जो ?।
किसके शरण मैं जाऊँ?, आरति वन्त अति अज्ञात जो ॥३४॥
विषमय विषम सम्वेदना, मम सर्व जानत आप हैं।
जेहि विवस अधम विमूढ़ मैं, भोगत सदैव त्रिताप हैं॥
निज पाद पद्म पराग दे, हे नाथ ! आपन कीजिये।
बूड़त विषय भ्रम भवधि में, अपनाय कर गहि लीजिये ॥३५॥
तव पादोदक मीन मम मन, लीन निमिष न भीन हो।
चित्त चन्दन सरिस मम, तब चरण में अवछीन हो॥

---

१ चौ०—सूझहिं राम चरित मणिमाणिक। गुप्त प्रकट जहँ जो जेहि खानिक ॥ १ ॥ (रा० बा०)

आप के शुचि सुयश में, प्रज्ञा हमारि विलीन हो।
अहंकार संज्ञा छीन, अति, विनम्र विनय नवीन हो ॥३६॥
विष भोग विषयन इन्द्रियाँ, पल त्यागना चहतीं नहीं।
तथा ज्ञान विराग आदिक, स्वप्न में गहतीं नहीं ॥
आप के पद कंज में, अनुरक्त मम मन हो तथा।
मोहादि विषय विकारनों की, स्वप्न हूं न सुनै कथा ॥३७॥
रसना रसिक नव सुयश की, चात्रिक सरिस रटती रहै।
नाम भजन विचार अमिमय, प्रेम रस चखती रहै ॥
कर्तव्य काया सों करैं, पद सेवना सत्कर्म को।
उपकार पर सू साधु सेवन, धारणा हो धरम को ॥३८॥
मन कर्म वाणी सों सदा, लवलीनता हो आप में।
चाहे अमित संकट पड़े, जलता रहूं त्रिय ताप में ॥
हे नाथ! तव कहवाय, का के शरण में अब जाउं मैं।
कल्प अगणित से छुटे, कब चरण पंकज पाउं मैं ॥३९॥
नौमि चरण सरोज पुनि-पुनि, बाल विनय सुनावहूँ।
काय मंशा वचन सो, पद रेणु उर दृग लावहूँ ॥
चतुर गुरु गुरुवंश नति, पद रेणुका शिर पर धरूँ।
विश्व-वन्धु कृपालु सन्त, सरोज पद वन्दन करूँ ॥४०॥

मनोपदेश

मन! चपलता निज त्यागि के, शुचि शान्तिता धारण करो।
बीत्यो वहुत दिन विषय भोगत, अजहुं तो वारण करो ॥
विस्मृतिता विभ्रांति तजि, स्व शक्ति को स्मरण करो।
अविचल स्वरूपानन्द दधि में, शुद्ध हो संतत चरो ॥४१॥
बन्ध मोक्ष[1] प्रदान कर्ता, हौ तूंहीं सब काल में।

---

१ श्लो०—मन एव मनुष्याणां कारणं वन्ध मोक्षयोः।
वन्धाय विषयासक्तं मुक्तौनिर्विषयं स्मृतम् ॥ १ ॥
(ब्रह्मविन्दुपनिषद)

त्रिजग जड़ चैतन्य को, संतत् धरे निज गाल में ॥
मेघ माला भ्रमत्[1] नभ ज्यों, वायु के सम्वेग में।
ब्रह्मण्ड सर्वो भ्रमत् त्यों, तव शक्ति के उद्वेग में ॥४२॥
सृजति-पालति[2] हरति सब को, है तुम्हारि प्रकृत्ति ही।
दुख-सुख विधात्री है वहीं, केवल तुम्हारि[3] विकृत्ति ही ॥
अब तो भला भव भ्रान्ति त्यागो, विषमता प्रवृत्ति की।
जागो जरा पुरुषार्थपुत्, करि प्रीति प्रिय निवृत्ति की ॥४३॥
तव उन्मेष से सब[4] जग वन्यो, उन्मेष गत् भव नाश है।

टीका—मनुष्यों के वन्ध और मोक्ष का कारण (देनेवाला) मन ही है, विषयासक्त मन वन्ध और निर्विषय मन मोक्ष करता है ॥ १ ॥

१—ये नैव भ्राम्यते विश्वं वायुमेवाभ्रमण्डलम्"

टीका—जिस मन के वेग से जैसे वायु वेग से मेघमण्डल भ्रमण करता तैसे मन ही के वेग से सम्पूर्ण विश्व भ्रम को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

२ श्लो०—तन्मनः शोधनं कार्य्यं प्रयत्ने न मुमुक्षुणा।
विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः कर फलायते ॥ १ ॥

टीका—इस कारण मोक्षार्थी पुरुषोंको प्रयत्न से प्रथम मन ही को शोधन करनां योग्य है जब मन विशुद्ध हो तो मुक्ति हस्तामलक समान होय जायगी ॥ १ ॥

३ श्लोक—मनः प्रसूते विषयान शेषान्स्थूलात्मनासूक्ष्मतया च भोक्तुः। शरीर वर्णाश्रम जाति भेदां गुणक्रिया हेतुफलानि नित्यम् ॥ ३ ॥ (वि० चूड़ामणिः १८३।१६।१८४।१८०)

टीका—स्थूल, सूक्ष्मरूप से भोक्ता पुरुष के सम्पूर्ण विषय को तथा शरीर वर्णाश्रम जाति भेद गुण क्रिया कारण फल इन सब को मन ही सदा उत्पन्न कर्ता है। (१८०)

४ दो०—मन उन्मेष जगत भयो, विन उन्मेष नसाय।
कहो जगत कित सम्भवै, मनही जहाँ विलाय ॥ १ ॥
(वि० वि० ७।१२)

दारुण सरोष तुम्हार ही, तिहुँ काल भीषण त्राश है ॥
सशक्तता विषयन विषे, विकराल अजरा पाश है ।
आश तृष्णा मान्यता, भव-उदधि धारा खाश है ॥४४॥
निर्विषय मनहिं [१]विशुद्ध मुक्ति, सुसन्त श्रुति वर्णन करैं ।
संकल्प सकल विकल्प गत, सानन्द युत निर्भय चरैं ॥
सब राग द्वेष विकार हीन, अधीनता दिनता परे ।
अहंकार विकट विशाल दुष्ट, विचारि संगति परि हरे ॥४५॥
वीवेक सत्य सुशीलता वर, शान्तिता हृदये धरो ।
करुणा, क्षमा, शुचि, धैर्य्यता, वीनम्रता मृदुता करो ॥
मयत्री तथा मुदिता उपेक्षा, सरलताई में चरो ।
वर वीरता, गम्भीरता, धृति, शौच्य, तोषादिक धरो ॥४६॥
बिशद ज्ञान विचार पर, वैराग्य दृढ़ हृदये करो ।
स्वाधीन-पर उपकार विनय, प्रवीनता अविचल धरो ॥
अवच्छिन्न सहज स्नेह, प्राणिन मात्र से संतत करो ।
यह मुक्त जीवन अरु विदेही, देह की विस्मृति चरो ॥४७॥
हे तात ! सब उत्पात तजि, नर जन्म को सफलित करो ।
शव दीनता लवलीनता, अवच्छिन्नता धारण धरो ॥

---

१ श्लोक—वायुनाऽऽनीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते ।
मनशा कल्पतेवन्धो मोक्षस्तेनैव कल्पते ॥ १ ॥
(वि० १७५)

टीका—जैसे वायुमेघ को इकट्ठा करता है फिर वही वायु मेघ को अन्यत्र उड़ा देता है तैसे मन ही से पुरुष की वन्ध कल्पना होती है अरौ मन ही से मोक्ष भी होता है ॥ १ ॥

सा०—मन गोरख मन गोविना, मन हीं औघड़ सोय ।
जो मन राखे जतन करि, आपे करता होय ॥ १ ॥
(सा० ग्रं०)

उपरोक्त धर्म्मा धर्म्म को, निर्णय विमल मति से करो।
यदि हो यथार्थ विचार तो, धरि शीघ्र भव-दधि से तरो ॥४८॥
कल्पित कला रचना सवी, दृग दिव्य खोलि निहारि लो।
बिखरी हुई शक्ति तुम्हारी, करि विवेक निवारि लो॥
स्वप्नवत् व्यवहार सव, संकल्प[१] से तुमने रची।
क्षणभंगु सकल समक्ष ही, क्यों मानते तेहि को सूची ? ॥४९॥
विभ्रांति मय संकल्प अपना, आप निर्मूलन करो।
शान्त शुद्धात्म स्वरूप, अभ्रांत दृढ धारण धरो॥
नित्य वोध अखण्ड अद्भुत, स्वात्म में विचरण करो।
निर्द्वन्द्व बन्ध विमोह गत, निश्चिंत सत्-रत् में चरो ॥५०॥
मानै न हितोपदेश को, सो शीश धुनि पछिताइ हैं।
विकट काल कराल गण, जब निकट आय तुलाइ हैं॥
विकट वेष विलोकते द्युति, वदन[२] की कुम्भिलाइ हैं।
श्रान्त दारूवत् दशा हो, वचन मुखते न आइ हैं ॥५१॥

---

१ श्लोक—स्वप्नेऽथ शून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्। तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥१॥
(विवेक चू० १७३)

टीका—जैसे स्वप्न अवस्था में अथवा शून्य प्रदेश में मन ही भोक्तृत्व आदि सव विश्व की सृष्टि करता है तैसे जाग्रत् अवस्था में कुछ विशेष नहीं है यह सम्पूर्ण प्रपञ्च केवल मन ही का तरंग है ॥ २ ॥

२ श्लोक—कुटुम्व भरण कल्पोमंद भाग्यो वृथोद्यमः।
श्रिया विहीनः कृपणोध्यायनश्वसिति मूढ धीः ॥ १ ॥

टीका—जव मृत्युकाल निकट आता है तव वह मतिमन्द भागी कुटुम्व के भरण पोषण में उद्यम वृथा हो जाने से असमर्थ हो जाता है तव श्री विहीन हो कृपण के समान वह मूढ बुद्धि ध्यान करता हुआ श्वास लेता है ॥ १ ॥

द्रवैं सलिल कुधार नयनन, उर्ध्व-मुख वायू चलैं।
मल मूत्र शय्या पर पड़े हो, सुधिन नेको तनु हलैं॥
तात-मात सहोद्र अनुजा, तनुज तनुजा सब खड़े।
भार्य्या परिवार सकलो, पास सब छोटे बड़े॥५२॥
काहू गोहारि लगै नहीं, जब[१] यातना यम गण करैं।
कोउ भाग लेहिं न कष्ट में, न निमिष कोउ संकट हरैं॥
यम लात मारहिं औ चपेटन, परिघ शक्ति प्रहारहीं।
असमर्थ रक्षण में कुटुम्बी, हाय हाय पुकारहीं॥५३॥

---

१ श्लोक—वायुनोत्क्रमतौत्तार कफ संरुद्ध नाडिकः।
काम श्वास कृतायासः कण्ठे घुरघुरायते॥ २॥

टीका—वायु से नेत्र वाहर निकस आये कफ से सब नाड़ी रुक गई, खांसी सांस के कर क्लेश से कंठ में घुर घुर होने लगे॥ २॥

श्लोक—यम दूतौतदा प्राप्तौ भीमौसर भसेक्षणौ।
स दृष्ट्वा त्रस्त हृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति॥ ३॥

टीका—तब भयंकर नेत्र वाले क्रोधकर करके दो दूत आते हैं उन्हें देख डर कर विष्ठामूत्र कर देता है॥ ३॥

श्लोक—तयोर्निर्भिन्न हृदयस्तर्जनैर्जात वे पथुः।
पथिश्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन्॥ ४॥

टीका—उन दोनों की ताडना से उसका हृदय फटता जाता है; हृदय में कम्प हो जाती है रास्ता में कुत्ता खाने लगते हैं तब आर्त होकर अपने पाप को याद करता है॥ ४॥

श्लोक—तत्र तत्र पतञ्छ्रान्तोमूर्छितः पुनरुत्थितः।
यथा पापी यसानीतस्तमसा यमसादनन्॥ ५॥

टीका—जहाँ जहाँ, गिरता है, श्रांत मूर्च्छित हो जाता है, फिर खडा भया, इस प्रकार पापी को अन्धकार व्याप्त मार्ग में होकर यमलोक को ले जाते हैं॥ ५॥

ह० छं०—काल व्याल कराल[1] अपने, आस्य में त्रिभुवन धरे।
त्रिविधि ताप तपाय ग्रासत, उद्र संतत अध भरे॥
जेहि हांक से पर्वत फटैं, जलधी उलन्धैं फाल[2] से।
गिरवर धरे नख ऊपरे, सो भी बचै नहिं काल से॥५४॥

श्लोः—आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृतं परतोऽपि वा॥ ६॥

टीः—कहीं उसके शरीर को उल्मुक लकड़ियों से जलाते हैं, कहीं उसके हाथ से वा दूसरों के हाथ से उसके शरीर का मांस कटवा कर उस्से खिलाते हैं॥ ६॥

श्लोः—जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारः स्वगृध्रैर्यमसादने।
सर्पवृश्चिक दंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम्॥ ७॥

(भा० स्कं० ३ अन्तर्गत कपिलगीता अ० ६।१।२१।१६।१६९।२१।२२।२५।१६)

टीः—यमलोक में गीध, कुत्ता जीते की आंत उखाड़ते हैं; साँप, वीछी, डांस न्यारी पीड़ा देते हैं॥ ७॥

१ मनहर छंद—झूठ यूं वन्ध्यो है जाल, ताहि ते ग्रसत काल; काल विकराल व्याल, सवही कूं खात है। नदी को प्रवाह चल्यो, जात है समुद्र माहिं; तैसे जग कालही के; मुख में समात है॥ (सुन्दर विलास)

२ सा०—हाथों परवत फाड़ते, समुँदर घूँट भराय।
ते मुनिवर धरती गले, का कोय गरव कराय॥ १॥
धरती करते एक पग, करते समुँदर फाल।
हाथों परवत तौलते, ते भी खाये काल॥ २॥
सब जग डरपैं काल सों, ब्रह्मा विष्णु महेस।
सुर नर मुनि औ लोक सब, सात रसातल सेस॥ ३॥
(सा० ग्रं० काल को अंग सा० ४६।४९।६९)

उदधि शोषैं घूंट से, निशि-दिन समाधि लगावहीं।
भीषण अहं मय काल से, सो भी वचन नहिं पावहीं ॥
कच्चा कलश ज्यों नीर में, विखरत विलम्ब न लागहीं।
महिं करत तथा विनाश, काल कठोरता-रस पागहीं ॥५५॥
मेरू मुलक इव तो उड़ता, रज करत कठिन पषाण को।
तहाँ अपर की क्या वार्ता ?, धारण किये जिन्ह प्राण को ॥
रवि-शशि [१]सुरासुर नाग-नर, को करत सबहिं विहाल सो।
पावक, पवन, नभ नीर आदिक कोऊ वचत न काल सो ॥५६॥
सब को असन कर्ता सदा, तुम हौ अभय किस ख्याल से ?।
कैसी तुम्हारी अज्ञता ?, समझो विवेक विशाल से ॥
अब से सजग हो कर सम्भारो, सफलता नर तनु करो।
तजि आश-पाशी कल्पना, शुद्धात्म हो भव-जल तरो ॥५७॥
पुनि पुनि कहौं समझाय के, मेरी कही मानो भला।
विस्मृतिता वीमूढ़ता बस, अव न तूं घोंटो गला ॥
अब बहुत कहना व्यर्थ है, जो तूं न उर धारण करो।
निज सहित मुझको तार तूं, या काला आनन ले धरो ॥५८॥

मत्तगयन्द सवैया

काल तिहूँ त्रिय लोक विषय, त्रिदैव प्रकृत्ति निरञ्जन देवा।
जीवन बांधि रखैं निज आश्रित, संतत काल करावहिं सेवा ॥
त्राश त्रिताप दे आश में पाशहिं, विश्व करैं सब काल कलेवा।
वेद पुराण प्रशंशहिं शारद, जीव लखैं किमि ? काल को भेवा ॥२॥
जो सब काल कला दरशाय, त्रिकाल त्रिलोकन जीव स्वच्छंदा।
हैं करि देत विनाश त्रिताप, समूल विनष्ट स आसकुफन्दा ॥

---

१ सा:—चन्द सूर घर पवन लौं, खंड ब्रह्मण्ड प्रवेस।
जम डरै काल कबीर सौं, जै जै तूं आदेस ॥ ४ ॥
(सां० ग्रं० कालको अंग ७०)

क्यों न बनो उनके पद की रज ?, सेवहु पाद सरोज सनन्दा ।
को उन्ह के तजि के भजनीय ?, भजो तजि के भव-भ्रान्तिजगन्दा ॥३॥
है सत्संग अभय पद दायक, दुर्जन संग सभै दुखदाई ।
जाहि विमोक्ष को ध्यान होवै नित, सो सत्संग करै मनलाई ॥
सज्जन सेवन भीति विभंजन, अन्य त्रिलोक में नाहिं उपाई ।
कौन कहै सतसंग महातम[१] ?, शारद शेष रमेश न पाई ॥ ४ ॥

ह० छं०—सत् प्रेम की प्रतिमा बनो, तुमको सदा प्रभु याद हों ।
तुम भी सदा उर में बसो, एकत्व भाव अनादि हों ॥
विस्मृतिता न स्वप्न में, न भेद भ्रान्ति प्रमाद हों ।
हो मनुजता की सफलता, निर्बन्ध विगत विषाद हों ॥५९॥

अनुपम-रसायन प्रेम हीं, कछु विश्व में यहि सम नहीं ।
सकलो सुरासुर नाग नर, गन्धर्व आदिक वश यहीं ॥
वांच्छा जो प्रभु पद मिलन की, पद-पद्म प्रेम करन चही ।
कर दो समर्पण शीश निज, फिर मुक्ति क्या न्यारी रही ॥६०॥

---

१ दोः—जगत मोह फांसी अजर, कटै न आन उपाय ।
जो नित सत्संगति करत, सहज मुक्ति होय जाय ॥ १ ॥
कामधेन अरु कल्पतरु, जो सेवत फल होय ।
सतसंगति छिन एक में, प्राणी पावै सोय ॥ २ ॥
पारस भैं अरु सन्त में, बड़ो अन्तरो जान ।
वह लोहा कंचन करै, यह करे आप समान ॥ ३ ॥
(वि० मा० वि० २।१३।१४।१५)

इन्दव छंदः—तात मिलै पुनि मात मिलै, सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई ।
राज मिलै गज वाज मिलै सब, साज मिलै मन वांच्छित पाई ॥
लोक मिलै सुर लोक मिलै, विधि लोक मिलै वैकुण्ठहु जाई ।
सुन्दर और मिलै सब ही सुख, सन्त समागम दुर्लभ भाई ॥१॥
(सुन्दर विलासः सा० १२)

जीवन विदेह विमुक्ति तो, सब सन्त वर्णत हैं यही।
समत्व भृंगी कीट वत्, स्वाधीनता पावे तेही॥
स्वात्म निवेदन शीघ्र ही, उपहार प्रभु हित सब कहै।
कछु और उन्हें न चाहिये, सानन्द लहि विहरत रहै॥६१॥
स्वाधीनता तो है तुझे, क्यों कष्ट सहते हो भला ?।
चाहो छूटो पल एक में, या मृत्यु तक फांसो गला॥
इतिहास शास्त्र पुराण श्रुति, सब संत सम्मत् है यही।
नहिं अपर बन्ध विमोक्ष दायक, जो न मन मंशा रही॥६२॥
वहुत कहना व्यर्थ है, सुख प्रद दुखद स्वविचार लो।
दर्पण स्व अन्तःकरण शुचि में, आस्य अपन निहार लो॥
आदर्श-दृश्य सज्जन जनों का, चरित शुद्ध मिलाय लो।
अपनी दशा शुचिता मलिनता, बुद्धि चित समझाय लो॥६३॥
चौः—करन चहिय शुचि धर्म विचारा। जाते भयते हो निस्तारा॥१॥
लोक प्रलोक जीव हितकारी। एक मात्र धर्महिं उपकारी॥२॥
जहाँ धर्म तहँ सब सुखसाजू। धर्म विगत सब नरक समाजू॥३॥
ताते धर्म जिवन को प्राणा। कहहिं सन्त श्रुति शास्त्र पुराणा॥४॥
दया धैर्य सत् शील विचारा। क्षमा शान्ति शुचि पर उपकारा॥
ज्ञान बिराग विवेक निधाना। भक्ति भजन दृढ ध्यान अमाना॥
सदाचार व्रत दृढ गहि लीजे। पर अपकार न भुलिहुँ कीजे॥
सुत तियादि स्वपना वत् सोऊ। तन धन धाम न आपन कोऊ॥
मिथ्या सब संसार बड़ाई। अहंकार अतिशय दुखदाई॥
काम क्रोध मद लोभ कराला। ममता तृष्णा करहिं विहाला॥
मोह मान दम्भादिक व्याला। विषय विषमता प्रकटे काला॥
ताते सकल विकारहिं त्यागो। ज्ञान ध्यान अमि-रस में पागो॥
अज्ञ निशा में शीघ्रहिं जागो। शुद्ध स्वात्मा में अनुरागो॥
जो न धारणा धारो सोई। उक्त वचन सब निष्फलं होई॥

दोः—यह तन की तब सफलता, जब छूटै भव-बन्ध।
आश पाश दुर्वासना, रहै न विषयन गन्ध ॥ १५ ॥
मनुज देह की सफलता, दुख प्रद सकल असन्ध।
नहिं तो पशु पक्षिन सरिस, जन्म निरर्थ सबन्ध ॥ १६ ॥
है स्वतंत्रता मनुज की, शुद्ध स्वरूपहिं ध्याय।
गमना-गमन अमूल हों, तो मनुजत्व कहाय ॥ १७ ॥
आश-पाश तृष्णा विवस, जो नर रहहिं विहाल।
देखन मात्रहिं मनुज हैं, वास्तव काल कराल ॥ १८ ॥
सद्गुरु-पद सेवन सदा, सदाचार में प्रेम।
सत्संगति संतत करै, त्यागै भ्रम निज नेम ॥ १९ ॥
पुरुषारथ सन्तोष दृढ़, सदा रहै लव लीन।
विषय विषमता विगत हो, हंस बनै समि चीन ॥ २० ॥
प्रवल नीर की धार में, मीन उलट ही जात।
तथा भक्त संसार में, उलटहिं जात दिखात ॥ २१ ॥
भव सागर-धारा विकट, संसारिक बहि जात।
आप मोह वस अचल लखि, भक्तहिं कहत [1]बहात ॥ २२ ॥
हा! हा! शोक कि बात है, कहत बनै नहिं बैन।
धृक स्वारथ संसार का, पल इक परत न चैन ॥ २३ ॥
तापर ममिता अति घनी, निज सम सुखी न कोय।
मानत मूढ प्रमाद बस, कहे भक्तहिं दुख होय ॥ २४ ॥
बहुत गई थोड़ी रही, थोड़ी भी अब जाय।
आयू तनु के बीच में, स्थिर न अधिक रहाय ॥ २५ ॥
घट अपक्व जल में यथा, विखरत लगै न वार।
तथा दशा इस देह की, शीघ्र छुटै संसार ॥ २६ ॥

---

१ चौः—नौकारूढ चलत जग देखा। आप मोह वस अचल विशेषा ॥

जो सजीव मृतु हो रहै, देयि जगत सौं पीठ ।
सो सन्मुख निज नाथ के, अन्तर राखै दीठ ॥ २७ ॥

जो समझै तो पलक में, नहिं तो कल्प अनन्त ।
बन्धन निज विस्मृतिता, स्व स्मृति हो अन्त ॥ २८ ॥

रो० छ०—दोउ कुल सुकृत कृतार्थं, करो धरि ध्यान स्वच्छंदा ।
भक्ति, भजन, सत्संग, सदा करि लेहु सनन्दा ॥
प्रीतम-पद-जल-मीन, लीन मन मग्न अनन्दा ।
धन्यवाद मम यही, करो भव-भीति निकन्दा ॥ १ ॥

दोवे छं०—जगप्रपञ्च मोहादि त्यागि जो, गुरु-पद-पंकज ध्यावै ।
सो अवश्य भव-सिन्धु पार हो, अभय नाथ निज पावै ॥
आशा-पाश दुर्मती द्विधा, शोक समूल नशावै ॥
प्रेम विवेक सुशील, धैर्य्यता, शांत स्वरूप स्व पावै ॥२॥

शुद्ध स्वात्मानन्द ज्ञान घन, तेहि बिनु भ्रान्ति न जाई ।
भ्रान्ति विगत बिनु विषय वासना, नहिं त्रिय काल नशाई ॥
बांच्छि वासना पार ब्रह्म बनि, जीव भ्रमत जग आई ।
त्रिविधि ताप दुःख सहत निरन्तर, निज कृत कर्म बँधाई ॥ २ ॥

दो०—निज विस्मृति-विभ्रान्ति में, चेतन स्वयं बँधाय ।
सेवन करै अबन्ध पद, पल में लेहिं छुटाय ॥२८॥

जो सेवक प्रभु कर बिके, प्रभु बिकाहिं जन हाथ ।
युगल एक हीं हो रहैं, दास चरण प्रभु माथ ॥२९॥

सेवक में स्वामी बसैं, सेवक स्वामी माहिं ।
भ्रान्ति रहित सिद्धान्त यह, प्रभु सेवक इक [1]आहिं ॥३०॥

---

१ सा०—जब हम था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं ।
प्रेम गली अति सांकरी, तामें दो न समाहिं ॥ १ ॥
(सा० प्र०)

सो०—मूल, फूल, फल पात, भक्षि करै स्मरण सदा।
विश्व विमल यश ख्यात, होत काल विजयी सहज ॥ १ ॥

दो०—तीन लोक के राज से, सो सुख शान्ति न होय।
सत्संगति पल एक[1] में, श्रुति स्मृति कहे जोय ॥३१॥
ऋद्धि-सिद्धि जग मर्य्यदा, विसद विशेष प्रभाव।
काल जाल जिव वन्ध सव, पल में होत अभाव ॥३२॥
सब पुरुषारथ हेतु है, शक्ति असीम अनूप।
सुर दुर्लभ लहि मनु जतनु, क्यों भटकै भ्रम कूप ॥३३॥
मन क्रम् वाणी से सदा, प्रभु-पद पंकज लीन।
तब फिर को त्रैय लोक में, वन्धन प्रद करे दीन ॥३४॥
संसारिक सुख स्वाद में, या कोइ कुटुम मँझार।
जो अरुझैं कहूँ मित्र मन !, तो मम शिर हो भार ॥३५॥
प्रेम विकल मन जन कहे, मचलाई दर्शाय।
भव भंजन आरति हरण, सुनिये सजन सहाय ॥३६॥

रो० छं०—जो मोहिं को तजि जाहु, नाथ ! तो मर्द बखानू।
स्वात्म करूं प्रदान, अपर व्यवसाय न जानू ॥
जानत हूं सो सदन, आप जहाँ करत विलासा।
स्मृति सरसिज सेज, दीन उर सदय निवासा ॥२॥

दोः—जो मुझको तजि जाइ हो, मैं न तजू तव पास।
सेव्य चरण निज शीश धरि, करै प्रतिज्ञा दास ॥३७॥

रो० छं०—करै प्रतिज्ञा दास, नाथ ! तोहिं जानन दैहौं।
रखों समक्ष स्वपास, पाद-पंकज बलि ह्वो हौं ॥
हस्त ग्रह्यो जेहि समय, नहीं तब क्यों पहिचान्यो ?।
निर्वाहत क्या श्रम ?, प्रथम करुणा क्यों आन्यो ॥३॥

---

१ दोः—सत्संगति सुख पल जो, मुक्ति न तासु समान।
ब्रह्मादिक इन्द्रादि भू, निपट अल्प ए जान ॥ १ ॥ (वि.)

दोः—दीनबन्धु ! आरति हरण !, करुणालय ! जन पाल ! ।
शील सदन ! विपदादलन !, क्षमा-निधान ! कृपाल ! ॥३८॥

रो० छं० - जो मोहिं आपन कियो, नाथ ! लीजे अपनाई ।
अधम उदधि अवगाह, समझि जनि देहु दुराई ॥
यद्यपि मैं अघ मूल, तदपि तव दास कहावत् ।
विदित विषमता रहित, सहज सज्जन सब गावत् ॥४॥
अवलोकिय निज विरद, कालिमा चढ़न न पावै ।
मोहिं कछुक नहिं शर्म, आपका सुयश नशावै ॥
यही यक अवलम्ब नाथ ! शरणागति पालक ।
अधम उधारणहार, दीन-वत्सल भव घालक ॥५॥

मुझसा अधम न अपर, लख्यो खूब हृदय विचारी ।
विषय विषमता विवस, दियो निज नाथ बिसारी ॥
यह कृतघ्नता दोष, परम उपकार न मान्यो ।
धृक् धृक् मम अपकार, नाथ ! उरयाद न आन्यो ॥६॥

कर गहि आपन कीन्ह, दीन्ह मम अगुण दुराई ।
कोटि कोटि मम विनय, विपल-पल नमो सदाई ॥
क्षमो क्षमा आगार, नाथ मम कलुष नशाई ।
दीजे निज पद-त्राण, शरण में बसो सदाई ॥७॥

दो०—अपर नहीं कछु चाहिये, अशरण-शरण कृपाल ।
श्रवण सुन्यो प्रभु सुयश को, आयो शरण विहाल ॥३९॥
जहाँ आशा वासा तहां, यह जानत सब कोय ।
तासो प्रभु-पद जलज पर, शुचि सज्जन बलि होय ॥ .०॥

दोबे छं०—भक्ति, भजन, सत्संग विरोधी, धर्म्म गतपाय सुदेही ।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही ॥
क्यों की ? भ्रमत लक्ष चौरासी, बीत्यों कल्प अनन्ता ।
समय अपूर्व विमोक्षद यह भी, व्यर्थ विगत मनमन्ता ॥३॥

याते अपर हानि क्या ? त्रिभुवन, दुर्जन संग नशाई ।
बहुरि चलै भव चक्र निरन्तर, बूडत पार न पाई ॥
अवशि त्यागने योगहिं दुर्जन, जो चाहै कल्याणा ।
होय सफलता मनुज देह की, पावै पद निर्वाणा ॥ ४ ॥

ह० छं०—पहले शुभाशा फिर निराशा, विश्व-स्वप्न स्पष्ट है ।
इस हेतु श्रुति सज्जन कहै, संसार में अतिकष्ट है ॥
इस हेतु रहना चाहिये, उपराम चित संसार में ।
आशक्तता सब त्यागिके, मनलीन करे सविचार में ॥
सदा चक्राकार गति, निरधार है संसार की ।
इस हेतु ममता अहंता, है त्याज मूल विकार की ॥
सदा दुष्टाचार तजि, ले शरण सत्याचार की ।
सरल सहज स्वभाव से, करे क्रिया शुचि व्यवहार की ॥६४॥
इस हेतु करुणा पात्र हो, करुणारणव जगदीश के ।
करुणा करहिं तव दीनवत्सल, नशय भय यमनीश के ॥
विघ्न कोउ व्यापे नहां, हो शमन कष्ट अनीश के ।
लोक या परलोक रक्षक, शक्ति इक परमीश के ॥६५॥
अपकार तजि उपकार कर्ना, चहिय मानव मात्र को ।
यहि मनुजता की अधिकता, हो पात्र करुणा दात्र को ।
अशुभ शुभ क्रम केर कर्ता, है सदा ही आप हीं ।
कर्म-फल भोक्ता स्वयं, मेटै स्वयं त्रय ताप हीं ॥६६॥

दो०—आपहिं काल दयाल हो, वर्तत चेतन एक ।
काल-कामना विवस जो, है दयाल स्विवेक ॥ ४१ ॥
पुण्य पूर्वकृत अमित युग, मिले शुलभ सत्सङ्ग ।
जन्म असंख्य न पंक कृत, होय निमेषमें भंग ॥ ४२ ॥
त्रिभुवन कोठी दारुकी[1], लगी विषय की आग ।

---

[1] सा०—सब जग कोठी काठ की, चहुँ दिसि लागी आग ।
शीतल संगति साधु की, तहाँ उबरिये भाग ॥ (सां. ग्रं.)

जलै कुसङ्गति युक्त जो, बचै सुसङ्गति जाग ॥ ४३ ॥
प्रेम-भक्ति जेहि उर बसे, जग सों रहै उदास ।
प्रभु-पद जलजनमीन मन, विलगन होय सो दास ॥ ४४ ॥
जन निज मनसों पूछहीं, चाहत प्रभु की दाम ? ।
प्रभु-पद नीरज जो चहै, रहै सदा निष्काम ॥ ४५ ॥
जाहि न चाहिय कबहु कछु, मग्न रहै बसु याम ।
सो जन प्रभु न्यारे नहीं, सयुज सतत् विसराम ॥ ४६ ॥
प्रेमाकुल मन जन कहै, पदाम्भोज शिरनाय ।
भव-भञ्जन ! संशय दलन!, सुनिय विमोक्षप्रदाय ॥ ४७ ॥
निज शरणन में राखिये, ग्रहण करिय मम हाथ ।
अधम विचारि न त्यागिये, नमो चरणधरि माथ ॥ ४८ ॥
दशा विलक्षण विशदवर, प्रेमातुर जन माहिं ।
सकै रसज्ञा वर्णि किमि[1]?, मन, बुधि जहाँ न जाहिं॥ ४९ ॥
कहता है कोइ और ही, करता है सो और ।
जाननिहारा और है, कहाँ कहन की ठौर ? ॥ ५० ॥
कंज कोकि-रवि रहित ज्यों, कुमुदिनि चन्द्र विहीन ।
तथा दास बिन नाथ के, मन-मलीन तनु छीन ॥५१॥
विरह बिकल इमि होयि जो, तो स्मरै धरि ध्यान ।
साहेब सेवक संग ही, मन क्यों भया अयान ? ॥५२॥
यह तनु की तब सफलता, हो भवाब्धि जब पार ।
गमना-गमन मिटै नहीं, जानहु जन्म असार ॥५३॥
मनुज जन्म की सफलता, प्रेम अखण्ड अनन्त ।
निज स्वामी पद-पद्म में, मोह जनित भ्रम अन्त ॥५४॥
सहज सुगम श्रुति सन्त मत, शिक्षा अगम अमोल ।
समझो शुद्ध विचार युत, वचन अपोल अडोल ॥५५॥

---

१ चौ०—"नयन अगिरा गिरा बिनु बानी ॥" (रा. बा.)

मत्तगयन्द सवैया ।

हैं सब जीवन के जिव साहेब, प्राणिन को जिन्ह प्राण अधारे ।
काल तिहूँ त्रिय लोकन जीवन, बूड़त आपहिं एक सहारे ।।
क्यों विसरैं अपने जन को ?, करुणाकर शील अखंड अपारे ।
सो गुरु देवन-देव प्रभो मम, रक्षक संतत संग हमारे ।।५।।

अस निश्चय हो जेहि के उर में पल, नाहिं तजैं शरणागति प्यारे ।
सेवक-सेव्य सनन्द सदा दुःख, द्वन्द्व निकन्दन विश्व मझारे ।
प्रेम-पयोदधि मग्न निरन्तर, काल महामन मुर्छित हारे ।
जीवन मुक्त विदेह सदा सत् , प्रेम जिसे सोइ काल संहारे ।।६।।

दो०—जो चाहै संसार को, करै जगत सो नेह ।
जो चाहै निज प्राण पति, त्यागै विषय सनेह ।।५६।।
जहाँ आशा वासा तहाँ, या में शंक न कोय ।
श्रुति स्मृति सब संत मत, [1]सत्य सनातन होय ।।५७।।
तीन लोक के राज से, सो सुख शान्ति न होय ।
प्रभु पद-पंकज प्रेम में, पलक विपल में जोय ।।५८।।
कहता हूं शुचि सन्त मत् , अब कछु कहना नाहिं ।
तुम जानौ औ कर्म तब, मम शिर भार न आहिं ।।५९।।
अहंममेति बन्धन[2] यही, अहंममेति नशाय ।
परम मोक्ष यहि कहत सब, बुध सज्जन श्रुति गाय ।।६०।।

---

१ चौः—जापर जाकर सत्य सनेहू । तेहि तिन मिले न कछु सन्देहू ।।
(रा. वा.)

२ श्लोक--यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं वन्धनं तदा ।। ३ ।।
(अष्टावक्र गीता)

टीका—जहाँ अहंकार सर्वथा नहीं है, वहाँ मोक्ष है और जहाँ अहंकार वर्तमान है, वहाँ वन्धन है ।।

चाहो बन्धन में बसो, या विमोक्ष होय जाहु।
चहो मनुजता सफल हो, या मनुजत्व नशाहु ॥६१॥
है स्वतंत्रता आपनी, मनुज देह के माहिं।
मनमाने करि लेहु सो, पराधीनता नाहिं ॥६२॥
जो कहो प्रभु बन्धन हरैं ?, सन्त निगम अस गाय।
तो प्रभु शरणे जात को ?, हृदय लेहु अर्थाय ॥६३॥
जो प्रभु-पद तजि भागिहैं, किमि प्रभु करहिं उधार।
है स्वतंत्रा की नहीं ?, करहु विवेक विचार ॥६४॥
प्रभु के कृपा कटाक्ष से, भव-दधि तरत न वार।
कृपा पात्र हम होहिं जब, तब प्रभु करहिं उधार ॥६५॥
करुणालय-पल विपल में, करैं विषय विष दूर।
प्रभु सन्मुख हम होहिं जो, तो पल खुलैं हजूर ॥६६॥
कृपा सिन्धु की कृपा से, दर्शय तत्त्व स्वरूप।
जिज्ञासा जो होहिं मोहिं, तब दिखाय निज रूप ॥६७॥
कृपा-सिन्धु की कृपा सो, सहज अवस्था प्राप्ति।
जो मुमुक्षता मोहिं में, संशय व्यथा न व्याप्ति ॥६८॥
है स्वतंत्रता याहि ते, मनुज शरीर मँझार।
या से सब शिर मौर है, मनुज [1]जन्म निर्धार ॥६९॥
श्वास प्रश्वास प्रत्यक्ष ही, करत है काल अहार ॥
तबहुँ न देखत विषयि नर, सज्जन करहिं पुकार ॥७०॥
छत्तिस ३६ वत् संसार से, सद्गुरु से ६३ छवतीन ॥
निर्द्वन्द्वी निर्बन्ध सो, सज्जन सहज प्रवीन ॥७१॥
निमिष अर्द्धगत कल्प सम्, विरहाकुल जन माहिं।
शान्ति, तोष, मुद धैर्यता, बुद्धि समूल नशाहिं ॥७२॥

१—चौः—बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन गावा।
नर समान नहिं कौनहु देही। जीव चराचर याचत जेही॥
(रा. उ.)

ह० छं:—संसार सुखद जनाहिं जाको, सो न प्रभु पद ध्यावहीं।
ध्यावै जो मन, क्रम, वचन सो, वाको सो निश्चय पावहीं।
विष अमी इक सँग खाहिं जो, सो स्वाद केहि कर पायिहैं।
भोगहिं असीम क्लेश सो, दुख प्रद दुहँन को गाइहैं ॥६७॥
भव सुखद दर्शक केर नीचे, मुख सदा ही रहत हैं।
ताते अविद्यावस सदा, विष प्रकट सो अमि कहत हैं॥
परमार्थ-पथदर्शक सदा ही, सत्य पद दर्शन करैं।
ताते अविद्या शूल संसृत्, सकल जीवन को करैं ॥६८॥

दो:—ज्ञान रहन की भूमिका, माया तजि कछु नाहिं।
समझि परीक्षा कीजिये, निन्दन योग न आहिं ॥७३॥
जप तप सयम साधना, नियम धर्म व्रत दान।
योग, यज्ञ, आचार, शुचि, माया विरचित ज्ञान ॥७४॥
भक्ति भजन सत्संग वर, ध्यान सचित्र प्रधान॥
माया जन्य न अपर है, जानहिं सन्त सुजान ॥७५॥
माया त्रिविधि प्रकार की, कारण, सूक्ष्म, स्थूल।
[1]अविद्या, [2]अपरा, [3]परा, दुखद सुखद त्रय [1]मूल ॥७६॥
द्रष्टा मया केर जो, सो माया-पति आहि।
सच्चिदानन्द स्वरूप सो, अपर ब्रह्म कोउ नाहिं ॥७७॥
सद्गुरु-कृपा कटाक्ष सो, जाके उर वर बोध।
सो जानहिं यह मर्म सब, मन माया कृत शोध ॥७८॥
स्वतः शुद्ध स्वात्म समझि, इष्ट अनिष्ट विचार।
सकल अनिष्ट प्रपञ्च गत, ईष्ट धारणा धार ॥७९॥
सद्गुरु पद-पंकज सदा, मन अलि रहै लुभाय।
ज्यों चकोर दृग चन्द्र से, त्यों पद ध्यान लगाय ॥८०॥

---

१ दो:—सुनहु तात माया कृत, गुण अस दोष अनेक"
और—"माया कृत गुण दोष अनेका" (र० उ०)

जाके उर इमि धारणा, सो विमोक्ष जग माहिं।
कछु कर्तव्य न शेष तेहि, माया दासि सदाहिं ॥८१॥

हरि त्यागे कछु भय नहीं, गुरु त्यागे भव-बन्ध।
नहिं पतिआहु तो समझिल्यो, बलि नरेन्द्र गति अन्ध ॥८२॥

हरि त्यागे नहिं हर्ज कछु, गुरु तजि कष्ट कराल।
गुरु वाणी माने बिना, बलि बँधि गयो [१]पताल ॥८३॥

वाणी सब चैतन्य से, चेतन वाणी पार।
वचन मात्र माया कला, जानै जाननि हार ॥८४॥

रक्षक आपन आप ही, भक्षक आपन आप।
स्व स्मृति-विस्मृति करि, सहत सदा त्रय ताप ॥८५॥

सदा चार सत्संग में, चाहिय करन निवास।
नहिं उपकार विसारिये, जब लगि पिंजर श्वास ॥८६॥

यहि मनुष्य की मनुजता, धर्म्म धरिय धरि ध्यान।
भक्ति भजन शुभ धारणा, सत्य शील दृढ़ ज्ञान ॥८७॥

कपट कुटिलता त्यागि सब, अवगुण सकल विसार।
चञ्चलता प्रकृत्ति की, तजि करिये सुविचार ॥८८॥

बार बार नहिं पायिये, मानव जन्म स्वतंत्र।
ताते दुर्लभदेवको, अपर [२]जन्म परतंत्र ॥८९॥

अहं आपदा विषमता, काल कला पहिचान।
समझ गहिय शुचि नित्यको, स्वस्वरूप बर जान ॥९०॥

---

१ सा:—हरि त्यागे कछु भय नहीं, गुरु त्यागे ते काल।
शुक्र कही मानी नहीं, बलि बँधि गयो पताल ॥ १ ॥
(सा० ग्रं०)

२ जन्तूनां नर जन्म दुर्लभ मतः" (विवेक चूडामणिः)
अर्थात् चौरासी लक्ष योनि भ्रमण करि मनुष्य शरीर होना दुर्लभ है ॥

प्र० दो०—अगम अगोचर पुरुष जो, नाम रूप किमि सोय ?।
नाम रूपको ध्यावते सो समक्ष किमि होय ? ॥९१॥
नाम रूपकिमि मोक्ष प्रद ?, शंका विकट विशाल।
करुणा करि समझायिये ?, आरति जन प्रतिपाल ॥९२॥
नाम रूपआत्मक जगत, है माया का कार्य्य।
सो अनादि दृढ बन्धप्रद, कहहिं सन्तश्रुति आर्य्य ॥९३॥
मोक्ष विरोधी विषम-विष, सो मोक्षद किमि नाथ ?।
अविचल बोध दृढाइये, विनवों पद धरि माथ ॥९४॥

उ० दो०—नाम रूपके ध्यावते, माया हद तक जाय।
आगे स्वतः प्रकाश जो, सो समक्ष दर्शाय ॥९५॥

ह० छं०—गोचर अगोचरको कहै ? निर्वाच्य असिम अनूप है।
प्रेरक सबनका आप ही, प्रकृति जन्य जो रूप है ॥
चित, बुद्धि मन, अहंकार गत, समक्षस्वतः अनूप है।
साक्ष्य साक्षीको कहै ?, स्वसहज शुद्ध स्वरूप है ॥६९॥

दो०—यहि विशेषता भजनकी, द्विधा भ्रान्ति नशाय।
सहज स्वरूपानन्द को, भक्ति समक्ष दिखाय ॥९६॥
ताते भक्ती भजन का, विविध प्रकार विधान।
द्वैत नशय नहिं भजन बिनु, भक्ति विना नहिं ज्ञान ॥९७॥

प्र० दो०—तीन कालतिहुँ लोक में, यकता हुई न होय।
जड-चेतन के भेद को, मेटि सकै नहिं कोय ॥९८॥
भ्रान्तिज कल्पित कल्पना, है यकता का मान।
किमि सम्भवे-कृपा-निधे ? समझाइये शुचि ज्ञान ॥९९॥

जडों जडों का भेद है, सो प्रत्यक्ष दिखलाय।
क्षिति, जल, पावक, वायुनभ, कबहुँ न एक कहाय ॥१००॥
थलचर, नभचर, वारिचर, त्यों चेतन में भेद।
है प्रत्यक्ष संसार में, यकता होति प्रच्छेद ॥१०१॥

उ० दो०—है अनेकमें एकता, दिव्य दृष्टि हिय होय।
अवलोकैं शुचि सन्तगण, अपर न देखै कोय ॥१०२॥
यथा भानुके दर्शते, कंज प्रफुल्लित गात।
संपुट तथा कुमूदिनी, होति विश्व विख्यात ॥१०३॥
त्यों सद्गुरु के दर्शते, अद्वै अनुभव बोध।
होत सहज शुचि सन्त उर, देखैं अमित अबोध ॥१०४॥
यथा सूर्य्य के उदय ते, त्रिभुवन का तम जाय।
तथा उलुक अरु वादुरही, तमहिं तमाम दिखाय ॥१०५॥
तथा हंस सद्गुरु उदय, सुजनहिं अद्वै सूझ।
दुर्जनको नानादिशय, भ्रम-तम विवस अबूझ ॥१०६॥
करि विवेक उर देखिये, समझिय अपनी बात।
पक्ष-पात या में नहीं, सज्जन मत विख्यात ॥१०७॥
आप कहो दो वस्तु हैं, जड़ चेतन जग माहिं।
उभय अनन्त अनादि हैं, याते यकता नाहिं ॥१०८॥
यही कही श्रीकृष्ण[१] जी, अर्जुन प्रति समझाय।
बहु ऋषियों का मत यही, भेद-भाव नहिं जाय ॥१०९॥
मैं भी मानत हौं इसे, जड-चेतन दो वस्तु।
उभय अनन्त अनादि हैं, युगमिलि सृष्टि समस्तु ॥११०॥
चैतन सब घट एक सा, या ते सब ही एक।
यही समत्व यकत्व है, भेद-भाव अविवेक ॥१११॥

---

१ श्लोक—प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यानादी उभावपि।
विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान् ॥ १ ॥
(गी० १३।१९)

टीका—भगवान कहते हैं कि, हे अर्जुन! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ (पुरुष) इन दोनों को ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान ॥ १ ॥

जड़-जड़ सब हीं एक हैं, यामें विविधाकार।
बने चतुर आकर विपे, सब जड़ रूप सकार ॥११२॥
चेतन द्रष्टा सर्वका, दृश्य सकल जड रूप।
यामें कछु संशय नहीं, युगमिलि विश्व अनूप ॥११३॥
जड-चेतन संयोग ही, ग्रन्थि मयी संसार।
चेतन जडते प्रीति करि, भोगत रोग अपार ॥११४॥
इक निमित्त उपदान द्वै, जगका कारण दोय।
चेतन देव निमित्त है, त्रिभुवन विरचत सोय ॥११५॥
जड प्रकृति है दूसरी, उपादान कह लाय।
रचना की सामा यही, नाम-रूप दिख लाय ॥११६॥
जड माया संयोग से, चेतन पाय विकार।
स्वेच्छा से क्षोभित भयो, विरच्यो विविधाकार ॥११७॥
पार ब्रह्म परमात्मा, नाम रूप करतार।
नाम-रूप के परे सो, सब को प्रेरनि हार ॥११८॥

ह० छं०—यहि हेतु अद्वै अजर अचल, अखंड अद्भुत ख्यात है।
गोचर अगोचर को कहे ?, चैतन्य ज्ञातऽज्ञात है॥
"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" यह मान्य श्रुति विख्यात है।
भासक नियन्ता सर्व द्रष्टा, धरत नाना गात है ॥७०॥
महतत् निरंजनदेव प्रणव, आप त्रय अहंकार है।
क्षेत्रज्ञ सकल अनीह व्यापक, आपही निर्धार है॥
नित्य अचित् अव्यक्त, श्वाश्वत्, आप सर्वाधार हैं।
आप कर्ता सर्वही का, आप ही शुचिसार हैं ॥७१॥

दूसरी प्रकृति सत्ता, सहज जडता रूप है।
विद्या अविद्या भाग युग हो, धरति अमित स्वरूप है॥
अथवा प्रकृति-विकृति भी, कहते सुसज्जन लोक हैं।
स्वाधीन करि चैतन्य को, देती असंख्यन शोक हैं ॥७२॥

आकृष्ट करि निज रूप सो, आक्रम्य कै बस आपने।
चैतन्यता विस्मृति करि, भोग वावती त्रिय तापने ॥
मन, वुद्धि, अहंकार, अन्तः करण से भर्मावती।
विषय विशिख अमोघ हनि, त्रिय लोकनृत्य करावती ॥७३॥
विद्या सहित चैतन्य[1] जो, परमेशवर सब लोक में।
सृजत, पालत, नाशता, कर्म्म फल प्रदत्तस शोक में।
रजगुण से रचना रचत हैं, सत् गुण सो सबको पालता।
तमगुण प्रसाद प्रहार से, आकर चतुर संहारता ॥७४॥
रचना करहिं अजवेष से हरि वेषधरि के पालहीं।
विकट काल कराल से, शिव वेष में संहारहीं ॥
प्रवृत्ति तथा प्रकाश और, प्रमाद वस सबको करैं।
माया सहित जगदीशने, त्रिय ताप दै त्रिभुवन हरैं ॥७५॥
कमलजरचित चहुँ वेद यामें, त्रिविध कांड प्रधान है।
ज्ञान, तथा उपासना रु, अमित कर्म विधान है ॥
इन फन्द में सब लोक फन्दे, मोह पाश प्रगाढ में।
सुर असुर किन्नर नागनर, निःशेष बहे यहि बाढ में ॥७६॥
पद्म-नाभ स्वसत्त्व गुण से, ज्ञान भानु प्रकाशते।
आशक्त करि सब लोक को, सुख भोग भाव विकाशते ॥
माधुर्य्यता के विवशते, स्मृति नहिं शुचि रूप की।
मक्षिका-घृत में पड़ी, तैसी दशा भ्रम-भूत की ॥७७॥
शंकर तमो-गुण से रची, परमाद दुखदा कार को।
अन्तःकरण सब इन्द्रियां, चंचल बनावन हार को ॥

१—"माया युतं ब्रह्म महेश्वरं वुधाजीवं समेतं च वदं त्यविद्यया" (विचार दीपक ७३)

टीः—माया संयुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं और अविद्यया युक्त ब्रह्म को जीव कहते हैं ॥ १ ॥

जेहि विवस हो सब लोकही, स्वेच्छित जठर-दवमें परे।
जैसे पतंग प्रदीप में, परि शीघ्रता ही जल मरे ॥७८॥
उपरोक्त द्वन्द्वों के रचयिता, आप सब रक्षक बने।
आदृत हुए तिहुं लोक में, फिर द्वन्द्व कष्टहिं को हने ? ॥
रक्षकहिं जब भक्षक बने, आशा कहाँ सुख-शान्ति की ?
कैसी अहा विपरीतता ?, सीमा नहीं इस भ्रांति की ॥७९॥

माया के द्वितीये भाग को, कहते अविद्या हैं इसे।
नाना तरंग विचित्रता, नहिं समझ कोउ सक्के तिसे ॥
चेतन अविद्या विवस को, जिव शास्त्र श्रुति सज्जन कहैं।
अल्पज्ञ शक्ती युक्त नित, परमेश के आश्रित रहैं ॥८०॥
कर्म कर्ता [1]आप ही, कर्म्म-भोग फल भोक्ता सोई।
विस्मृतिता शुचि रूप की, तजि अपर नहिं त्राशक कोई ॥
पर भीति उर में यह सदा, प्रेरक मेरा परमीश है।
जो चाहता करवावता, सामार्थ्य पर जगदीश है ॥८१॥
जगदीश की दृढ़ आश में, जिव भ्रान्ति पाशी में फँसे।
विस्मृतिता विष-विषमता, अज्ञानता नागिनि ग्रसे ॥
भ्रम भीति वस सब जीव ने, भजने लगे भगवान को।
त्राहि-त्राहि पुकार करि, करने लगे दृढ़ ध्यान को ॥८२॥
पाहि-पाहि कृपा निधे !, निज शरण में मोहिं राखिये।
पतित-पावन नाम प्रभु का, शास्त्र श्रुति दें साखिये ॥

---

१ श्लोः—स्वयं कर्म करो त्यात्मा स्वयं तत् फल मश्नुते।
स्वयं भ्रमनिसं सारे स्वयं तस्माद्विमुच्चते ॥ १ ॥
(ईश्वर गीता अ० २।६)

टीः—जीव आप ही कर्म करता है और उसका फल भी आप ही भोगता है; आप ही संसार में भ्रमता है और आप ही उससे मुक्त भी होता है ॥ १ ॥

पतित मुझको पूत करि, विरदावली निज पालिये ।
दीन वत्सलता समझि निज, अधमता मम घालिये ॥८३॥
पाप पीन मलीन अतिशय, कछु न मेरा बस चलै ।
प्रकृति इन्द्रिन दासता बस, शोक-पावक उर जलै ॥
हे नाथ ! शान्ति प्रदान करि, त्रयताप ज्वाल बुझायिये ।
शरणार्थी की अर्ज सुनि, कर ग्रहण कर अपनायिये ॥८४॥
किमि दीन-बन्धु विनय करूं ?, रसना-विषय रस में रसी ।
मिथ्या अहार विहार कर्म्मा-कर्म में प्रज्ञा फँसी ॥
यहि भांति नाना विनय करि, जिव त्राहि त्राहि पुकारहीं ।
उपरोक्त आरति गिरा सुनि, जगदीश कला प्रचारहीं ॥८५॥
विद्या अविद्या मध्य चेतन, रमत् घट-घट वाद में ।
प्रेरक सदा सबका प्रकाशक, सर्व स्वाद प्रमाद में ॥
सो आप "अहं ब्रह्मास्मि" रचना का प्रथम कर्तार ने ।
अहंकारमय परमातमा, पर ब्रह्म किये विस्तार ने ॥८६॥
आपहिं निरंजन देव जो, माया को संगम कार है ।
जगदम्बिका अष्टांगिनी, माया के विविधा कार है ॥
महभूत् पंचरु त्रिगुण को ही, अष्ट अंग बखानहीं ।
महि जल पवन पावक गगन, रज तम सतोगुण मानहीं ॥८७॥
उक्त अष्ट हैं अंग जाके, नाम सोयि अष्टांगिनी ।
प्रकृति जड़ता विषमता, सोई है माया कामिनी ॥
माया निरंजन देव की, विस्मृतिता जब से भई ।
तब से कला कौशल्यता, कशमल्लताई भर गई ॥८८॥
मल विक्षेप आवर्ण तीनों, दोष माया जाल हैं ।
या में फँसे जग जीव सब, रहते सदैव विहाल हैं ॥
व्रतमान भूत भविष्य पुरुष, विशेष काल कराल है ।
तेहि मध्य त्रिभुवन जीव, चुर्णित होत कष्ट विशाल है ॥८९॥

त्रय काल कला कराल, आप कृपालु की मूर्त्ति धरी ।
उत्पत्ति पालन करत सब को, बहुरि त्रिभुवन को हरी ।।
उत्पति करत अज वेष से, विष्णू स्वरूप सो पालहीं ।
योगेन्द्र रुद्र स्वरूप हो, सब काल सब को घालहीं ।।९०।।
इस बात की साक्षी सबै, श्रुति शास्त्र[1] सन्त पुराण हैं ।
अति युक्ति नहिं कछु आपनी, अपमान नहिं सब मान्य हैं ।।
आप लक्ष्य अलक्ष्य है, परमेश व्यापक विश्व में ।
मोक्ष का विश्वास देकर, नाश करहिं अदृश्य में ।।९१।।

---

१ श्लोक—एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।
परमं प्रधानं पुरुषं दैव कर्म विचेष्टितम् ॥ १ ॥
रूप भेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते ।
भूतानों महदादीनां यतो भिन्न दृशां भयम् ॥ २ ॥
योऽनन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्यखिलाश्रमः ।
स विष्ण्वाख्योऽधि यज्ञोऽसो कालः कलयतां प्रभुः ॥ ३ ॥
सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादि कृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन्माखन्मृत्यु नान्तकम् ॥ ४ ॥
(भागवत तृतीय स्कन्धान्तर्गत, कपिल गीता अ० ५।३७।३८।३९।४६)

टीका—वे भगवान परमात्मा ब्रह्म को रूप सबका नियन्ता प्रकृत्ति पुरुष रूप और उससे पृथक् जो भगवान कालरूप है वह दैव कहाता है ।।१।। रूप भेद के आश्रय होने से दिव्यकाल ही ईश्वर कहे जाते हैं, जिससे भिन्न दृष्टि वाले महदादि भूतन को भय होते हैं ।। २ ।। सर्वाधार होकर जो ईश्वर भीतर प्रविष्ट हो के सब जीवन को भक्षण करते हैं सो विष्णु हैं वही अधियज्ञ है, काल है वशी करनेवालों के प्रभु हैं ॥ ३ ॥ सो अनन्त अन्त करनेवाले काल अनादि होने पर भी जगत को आदि करनेवाले हैं, अव्यय है जनों से जनों को जन्माता है और मृत्युसे अन्तक को भी मारता हुआ सदा अखंड रूप है ।। ४ ।।

ह० छं:—यहि हेतु नाम अलक्ष्य निर्गुण, निराकार अव्यक्त हैं।
विविधि कला प्रसिद्ध कल्पित, तदपि सब अनुरक्त हैं॥
नाशक त्रिकाल त्रिलोक के, है मान्य त्रयगुण ही सही।
कष्ट प्रद मायहिं कहैं सब, प्यारी माया ही रही॥९२॥
लीला मयी कल्पित कला, परमात्मा की को लखें ?।
सानन्दयुत स: चेत से, अमि समझि सब विष ही चखें॥
"मम माया दुरत्यया"[१] श्री कृष्ण जी निज मुख कही।
"मम माया विमोहिता[२]" भगवान की वाणी यही॥९३॥
विधि हरी शिवहिं नचावहीं[३], यह ब्रह्म की महिमा सही।
विदित सब संसार में, लव लेष नहि शंका रही॥

१—(गीता) २—(गरुडपुराण) ३—माया की प्रवलता

३—श्लोक—वलं मे पश्यमायया: स्त्रीमय्याजयिनोदिशाम्।
या करोति पदा क्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम्॥
(भागवत्-कपिल गीता)

टीका—मेरी स्त्रीमयी माया का वल तो देखो कि दिशाओं के जीतने वाले शूरों को भ्रूचला कर केवल पाव में लुपटाय लेती है॥ १॥

श्लोक—प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूप धर्षितः।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधाव दृक्षरूपी हत त्रयः॥ २॥

टीका – जिस प्रजापति (ब्रह्मा) अपनी वेटी (सरस्वति) को देख उसके रूप के वश हो गए तव वह मृगी हो दौड़ी सो आप भी जाल छोड़ मृग बन दौड़े॥ २॥

श्लोक—तत्सृष्ट सृष्ट सृष्टेषु कोन्वऽखण्डित धीः पुमान्।
ऋषिं नारायण मृतेयोषिन्मय्येह मायया॥ ३॥

टीका—जव उनकी यह दशा है तो उन्हीं ब्रह्मा के रचे मरीच्यादिका स्त्रीरूप माया करि के अखण्डित बुद्धि वाले नारायण ऋषि के विना कोई नहिं है॥ ३॥
(कपिल गीता)

चौ०—हरिमाया वलिवन्त भवानी। जाहि न मोह कवन सो प्रानी।
नट मरकट इव सवहिं नचावत। रामखगेश वेद इमि गावत॥
उमा दारु योषित की नाईं। सवहिं नचावत राम गोसाईं॥
सुनि नारदहिं लागि अतिदाया। सुनु खग प्रवल राय की माया॥
जो वहु वार नचावा मोहीं। सो व्यापी विहंग पति तोहीं॥
(रामायण उत्तर)

सुनि विरंचि रामहिं शिर नावा"

हरि माया कर अमित प्रभावा। विपुल वार जो मोहिं नचावा॥

दो०—ज्ञानी भक्त शिरोमणि, त्रिभुवन पति के जान।
ताहि मोहि माया प्रवल, पामर करहिं गुमान॥ १॥
शिव विरंचि कहँ मोहहीं, को है वपुरा आन।
अस जिय जानि जपहिं मुनी, माया पति भगवान॥ २॥
इत्यादि (रामायण उत्तर)

शब्द माया मोहनी मनहरन

भोगियन सव पीस डारे, योगिया वस करन।
चंचल चपल विशाल लोचन, सवल सायक धरन॥
काम वान उरतान मारे, तासु कोइ न डरन।
नैन खंजन सजन भंजन, जोति जगमग करन॥
सार शब्द विचार देखो, मेटु आवा मरन।
सिद्ध सुरपति इन्द्र जेते, शोक सागर भरन॥
मांझ धार झक झोर वोरे, देत काहु न तरन।
सुर असुर नर नागकिन्नर, त्रसित लागे डरन॥
काल जाल विकाल में, सव जीव लागे जरन।
कहँहिं कवीर कोइ भागि वांचै, अभय सतगुरुसरन॥
जिते आये तिते लूटे, छूटे कोइ गुरु चरन॥ १॥

नागिन ने पैदा किया, नागिन डँसि खाया।
कोइ-कोइ जन भागत भये, गुरु शरण तकाय ॥
शृङ्गी ऋषि भागत भये, वन में वसे जाई।
आगे नागिन गांसि के, वाही डँसि खाई ॥
नेजा धारी शिव वड़े, भागे कैलाशा।
जोति रूप प्रगट भई, परवत परकाशा ॥
सुर नर मुनि जोगी यती, कोइ वचन न पाया।
नोन तेल छूँढै नहीं, कच्चै धरि खाया ॥
नागिन डरपे संत से, उहवां नहिं जावै।
कहँहिं कवीर गुरु मंत्र से, आपै मरि जावैं ॥ २ ॥

रमैया की दुलहिन लुटल वजार ॥

सुरपुर लुटा नागपुर लूटा, तीन लोक मचा हाहाकार।
ब्रह्मा लुटै महादेव लूटे, नारद मुनि के परी पछार ॥
शृङ्गी की भींगी करि डारी, पाराशर के उदर विदार।
कनफूका चिद काशी, लूटे लुटै योगेशर करत विचारा ॥
हम तो वचे साहेव दया से, शब्द डोरि गहि उतरे पार।
कहँहिं कवीर सुनो भाई साधो, उस ठगनी से रहु हुशियार ॥

(शब्दामृत सिन्धु प्र० १७।१।२।३।)

सा०—कवीर माया मोहिनी, मोहै जान सुजान।
भागै हू छूटै नहीं, भरि भरि मारै वान ॥ १ ॥
माया तरु वर त्रिविधिका, सोक दुःख सन्ताप।
सीत लता सुपनै नहीं, फल फीका तन ताप ॥ २ ॥
मोटी माया सव तजै, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगंवर औलिया, झीनी सव को खाय ॥ ३ ॥
माया माया सव कहै, माया लखे न कोय।
जो मन से ना ऊतरे, माया कहिये षोय ॥ ४ ॥

मन ते माया ऊपजै, माया तिरगुन रूप।
पांच तत्त्व के मेल में, बांधे सकल सरूप ॥ ५ ॥
(साखी ग्रन्थ माया को अंग)

शब्द (भजन) राम तेरि माया दुंद बजावै।
गति मति वाकी समझ परै नहिं, सुर नर मुनिहिं नचावै ॥
"मायामोह मोहित कीन्हा, ताते ज्ञानरतन हरि लीन्हा"
माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फांस लिये कर डालै बोलै मधुरी बानी ॥
केसो के कमला हो बैठी, शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति हो बैठी, तीरथहूँ में पानी ॥
जोगी के योगिन हो बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा हो बैठी, काहु के कौड़ी कानी ॥
भगता के भगतिन हो बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहँहिं कबीर सुनो हो संतो, ईसभ अकथ कहानी ॥ १ ॥

या माया रघुनाथ की बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनियाँ चुनि चुनि मारे, काहु न राखै नेरा हो ॥
मौनी वीर दिगंवर मारै, ध्यान धरंते जोगी हो।
जंगल में के जंगम मारे, माया किन्हहुँ न भोगी हो ॥
वेद पढंते पांडे मारे, पूजा करंते स्वामी हो।
अर्थ विचारत पंडित मारे बांधे सकल लगामी हो ॥
शृंगि ऋषि वन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो ॥
नाथ मछंदर चलै पीठिदै, सिंघलहूँ में बोरी हो।
साकट के घर करता धरता, हरि भक्तन की चेरी हो।
कहँहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो ॥ २ ॥
(बी० श० १३।६०।५९ कहरा १२)

फिर भी सवी भगवान को, पूजा भजन भक्ती करैं।
साधन अनेक प्रकार करि, दृढ़ ध्यान कोउ सादर धरैं ॥९४॥

गमना-गमन से मुक्त नहिं, भव धार में जीवन परैं।
है अपर की क्या वार्ता ?, त्रय देवहु जन्मैं मरैं॥
असुर वेष बनाय के, सुर सन्त मनुजों को हनैं।
सब त्राहि त्राहि पुकारहीं, तब आप असुरारी बनैं ॥९५॥

लीला विचित्र दिखाय के, अन् गिणित दुष्टों को हरैं।
सज्जन असज्जन जीवनों को, आप यों भक्षण करैं॥
अवतार वेष विशेष धरि, विश्वास दै सब जीव को।
भक्षण करत अवतारहू[1] को, त्यागता[2] नहिं शीव को ॥९६॥

सामान्य तथा विशेष तनु धरि, वचै नहिं कोउ काल ते।
जंगम स्थावर व्यथित सब, नहिं चैन कष्ट कराल ते॥
लीला सकल भगवान ही की, फिर हरै को कष्ट को ?।
यहि को सुयश सब गावहीं, सीमा नहीं इस नष्ट को ॥९७॥

ऐसी अनीति प्रचारते, सत्पुरुष जो सत लोक में।
करुणा स्वरूप अनूप अगम, अपार सहज अशोक में॥

---

१ दो०—ब्रह्मा से चीटी तक, रामादिक औतार।
जो उपजत सो विन सत, मन ! करि देखु विचार ॥ १ ॥
(वैराग्य रत्नाकर)

२ श्लोक—ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूत जातयः।
नाशमेवानु धावन्ति सलिला नीव वाडयम् ॥ १ ॥
(यो० वा० प्र० १ स० २८।९)

टीका—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा समस्त जगं जीव अपने नाश होने के लिये काल के मुख में इस प्रकार दौड़ते है, जैसे सब संसार के जल नदियों द्वारे समुद्र में जाय वडवानल में नाश (भस्म) होते हैं ॥ १ ॥

सो-महत् अत्याचार को, अवलोकि करुणा नयन से ।
चाह्यो नशावन सर्व शक्ती, काल की शुचि वैन सो ॥९८॥
धार्‍यो अखण्ड विशुद्ध हंस, स्वरूप जीवन के लिये ।
पावन अनन्त प्रकाश, स्वतह्यानन्द सो सव के लिये ॥
नाम रूप विहीन ज्ञानी, नाम से आद्दत हुए ।
स्वतः सिद्ध प्रसिद्ध त्रिभुवन, चहुँ युगन प्रकटित हुए ॥९९॥

ह० छं०—नाम रूप विहीन, शुद्ध स्वरूप की शिक्षा दयी ।
भ्रान्ति कला कराल माया, काल की परचित भयी ॥
सज्जन विवेक विचार युत, शुचि हंस दृढ़ धारण किये ।
वे काल शिर मर्दन किये, स्वानन्द करतल कर लिये ॥१००॥

दायक विशुद्ध विमुक्ति को हैं, हंस कछु संशय नहीं ।
भागे विहाल कराल काल, जो हंस सुधि पावै कहीं ॥
कालिमा भ्रम काल की, क्या ठहर शक्ती है वहां ? ।
जहाँ सूर्य्य का परकाश है, क्या निशा रह शक्ति वहां ॥१०१॥

सहज शांत अनूप हंस, स्वरूप जे लखि पावहीं ।
अगिणित कला भ्रान्ती मयी, वे निमिष मांहिं नशावहीं ॥
जनु बात के वल आक के, उड़ते भुवा कहुँ के कहूँ ।
तैसे उड़ैं भ्रम काल के, शुचि हंस दर्शन हो कहूँ ॥१०२॥

फिर आप सर्व समर्थ ज्ञानी, पुरुष की क्या वात है ? ।
जिनकी प्रभा सव लोक में, सव काल में विख्यात है ॥
सर्वान्त कारी काल ने, उनके समक्ष न हो सकै ।
क्या शक्ति काल कराल की ?, उनकी अनुज्ञा खो सकै ॥१०३॥

परवल निरञ्जन हार कर, जिन चरण की रज हो रहै ।
दासत्त्वता सविकार कर, शव भाव होकर सो रहै ॥
महकाल के सःकारियों की, अपर की क्या वार्ता ? ।
जहाँ परम दीन अधीन होकर, स्वामिही वल हार्ता ॥१०४॥

वे स्वतः सिद्ध कृपानिधे, करुणा कटाक्ष प्रवाह से।
हैं सींचते सब लोक को, दे शान्ति मृदु निःचाह से॥
आरति हरण मंगल करण, अधमन उधारण ख्याल से।
भ्रमण करि सब लोक में, रक्षण करहिं भ्रम जाल से॥१०५॥

सो आप सद्गुरु सत्य पुरुष, अनादि अचल अनन्त हैं।
हंसन अनन्त विमोक्ष प्रद, सब जीवनों के कन्त हैं॥
सब युगन में निर्माण करि वपु, अगम गम्य करावहीं।
सदाचार विवेक क्षमिता, शील शान्ति दृढ़ावहीं॥१०६॥

प्रवृत्ति से निवृत्ति करि, दर्शाय सहज स्वरूप को।
विद्या अविद्या की विषमता, हनन करि भ्रम कूप को॥
सत्य सुकृत नाम कृत युग, मध्य आप कहायऊ।
काल पाश विमुक्त करि, बहु हंस लोक पठायऊ॥१०७॥
त्रेता स्वनाम मुंनिन्द्र रचि, अहंकार निर्मूलन किये।
अहंकार हीन प्रवीन जन को, ज्ञान-ध्यान उदय हिये॥
बन्धन सकल निःशेष वेष, अशेष उर राजत भये।
लवलेश जनन कलेश श्रमगत, शोक भ्रम भव भय गये॥१०८॥

यहि भांति हंस विमुक्त करि, निज धाम को भेजत भयो।
सब शोक सन्धि ममत्व हमिता, राग गत भ्राजत भयो॥
निर्द्वन्द्व कन्द सनन्द हंस, स्वरूप लहि गाजत भयो।
भ्रम फन्द मन्द मलीनता गत, स्वतः पद राजत भयो॥१०९॥
द्वापर में "करुणामय" कहाकर, लोक के कारय किये।
सहज बोध विकाश कर, अज्ञानता तम हरि लिये॥
शुचि तत्त्व स्वतः स्वरूप से, संशय विपर्य्य गत किये।
निर्मुक्त हंस असंख्यनों करि, शुद्ध निर्भय पद दिये॥११०॥
कलियुग समक्ष विहाल कारक, काल प्रबल प्रतापते।
या में तमोगुण की अधिकता, विषमता अति व्यापते॥

संतत कराता नृत्य सबको, दग्धता त्रय ताप से।
वीभत्त करि मद मान्य ते, है काल घट प्रति व्यापते ॥१११॥

कलि में सद्गुरु कबीर साहिब का प्राकट्य

अति कठिनता गति कालकी, अवलोकि सद्गुरु देवने।
कलियुग "कबीर" स्वनाम से, भव भीति कीन्हीं छेवने ॥
"क" वर्ण सो-कल्याण प्रद, कैवल्य पद दातार है।
"वी" विषय-विषम विकार नाशक "र" प्रकाश उदार है ॥११२॥
यह नाम कलियुग हंसनों का, शान्त पद दातार है।
भव-सिन्धु में बुड़ते हुए को, नाम ही आधार है ॥
मख-योग जप तप नहिं सधे, कलि नाम से निस्तार है।
यहि हेतु श्रुति स्मृति मत से, भक्ति भजनहिं सार है ॥११३॥
सद्गुरु कबीर कृपाल ने, कलि में प्रकट कयि वार हो।
सत् नाम उप देशत भयो, जिमि हंसनों निर्बाह हो ॥
इस हेतु आप के प्रकट को, सम्वत् बहुत हैं लेख में।
इस मार्ग में शाखा प्रशाखा, विविध आवहिं देख में ॥११४॥
सब हंस सद्गुरु के उपाशक, तत्त्व ज्ञान प्रदान से।
सदाचार अहार शुद्ध प्रचार, सत गत मान से ॥
दम्भ मोह मदादि मत्सर, रहित करि अज्ञान से।
मुक्ता वहीं जग जीवनों को, शुद्ध करि विज्ञान से ॥११५॥
इक बार आविर्भाव काशी में, भयो जग जानहीं।
सम्वत् चतुर्दश शत पचपन, विक्रमी सब मानहीं ॥
जेष्ठ की थी पूर्णिमा, अरू सोमवार बखानहीं।
सद्गुरु "कबीर"[१] कृपालु के, प्राकट्य सज्जन जानहीं ॥११६॥

---

१ छं०—प्रथम पुरुष पग धरयो सत, सतजुग में आये।
परमारथ के काज, जीव की वन्दि छोड़ाये ॥

शाशक यवन का था समय, अति घोर अत्याचार हो।
हिन्दू धरम के मान्य का, अपघात नित्य प्रचार हो॥
त्राहि त्राहि पुकारहीं, हीन्दू समाज अधैर्य्य हो।
पाहि-पाहि कृपा निधे, स्वीकार मेरी अर्ज हो॥११७॥
उपरोक्त दशा निहारि के, सो दीन वत्सल देव ने।
आरति हरण हित-हेतु सो, अश्चर्य्यमय किय भेव ने॥
लहरतारा नाम के, सरवर प्रसिद्ध अनूप में।
सरसिज प्रफुल्लित दल उपर, पँवढ़े स्वबाल स्वरूप में॥११८॥

कागा ते हंसा किया, जाति वरन कुल खोय।
जम से तिनुका तोरि के, गंजिन सक्कै कोय॥ १॥
सतजुग गयो व्यतीत, सुनो त्रेता की वानी।
धऱ्यो मुनिंद्र को रूप, आप सत सुकृत ज्ञानी॥
हंसन को परमोधि के, आप रह्यो नीनार।
नाम प्रताप बसे जो जिवको, सो जन उतरे पार॥ २॥
त्रेता गयो व्यतीत, सुनो द्वापर की वानी।
करुणामय को रूप धऱ्यो, सत सुकृत ज्ञानी॥
चेतन हारा चेतियो, वहुरिन चेता जाय।
सत्त सुकृत चीन्हे विना, काल सभन को खाय॥ ३॥
कलिजुग प्रकट कवीर, काल को देखत जोरा।
किये कासी अस्थान, आप भय बन्दी छोरा॥
मुनि पंडित सव वाद हीं, कोई न पहुँचे ज्ञान।
निर्गुन लीला धारि के, आप पुरुष निर्वान॥ ४॥
कलिजुग कर्म अपार, जीव कोइ कहा न मानै।
सीखे साखी सवद, उलटि के वाद वखानै॥
वाद किये पहुँचै नहीं, मन ममता के जोर।
लख चौरासी जिया जोनि में, भमैं नरक अघोर॥ ५॥

पूर्व पुण्य प्रभाव से. "नीरू-निमा" तहँ आयेऊ।
तिय तृषावति सर में गयी, शशि सरिस शिशु तब पायेऊ॥
घटना अलौकिक देखि के, "नीरू" विविधि शंका करी।
स्व बाल सदुपदेश दे. तत्काल भ्रम शंका हरी॥११९॥
पूरब त्रिजन्म[१] वृत्तान्त को. दोनों के आप सुनायऊ।
सन्देह गत सानन्द युत, दोउ बालले गृह आयऊ॥

(नाम लीला)

१—लावनी ध्वनि गारा।

चलो सखि दरशन को सरतीर। प्रगट भये सतगुरु सत्य कबीर॥टे०॥
समय अरुणोदय के परभात। विमल जल विचपुरइन के पात॥
अवतरे बालरूप मृदु गात। देखि सुन्दरता काम लजात॥

परम मनोहर रूप अति, शोभा वरणि न जाय।
उपमा काह त्रिलोक में, जो कोई देवे लाय॥
मनोरवि उदय भयोतम चीर, प्रगट भये सतगुरु सत्यकबीर॥१॥

जोलाहा गमन लिये घर जाय। सरोवर के तट पहुँच्यो आय॥ देखि बालक तिय गई लोभाय। धायके लीन्हों गोद उठाय॥ देखत बालक गोद में, जुलहा कह्यो सरोष। धरु जहँ ते लाई तहाँ, लोग लगावे दोष॥ तब तिय बोली उर धरि धीर॥ प्रगट भये० २॥ देखि यह बालक मोहिं मुसकात, मनो कछु कहन चहत है बात॥ पिया मोहिं ताते अधिक सोहात। लै चलो घर सब तजि उतपात॥ सुनत बात यह नारि की, काढ़ि लई तरवार। धरि चलु बालक को यहीं, नहिं तो डारूँ मार॥ कह्यो जब यहि विधि त्राश दिखाय। नाय शिर रह गई तिय सकुचाय॥ हाय अब करूं मैं कौन उपाय?। जाय कै दूब पै दियो सोवाय॥ सजल नयन अति विकल तन, कहि न सकै कछु बात। धरणी परत जिमि माछली, बिनु जल के अकुलात॥ भइ तब नभ से गिरा गँभीर प्रगट भये०॥ ३॥ तोहि तारण कारण सर्वंश। धन्यो निज बालरूप

अश्चर्य्य मय शिशु केलि द्वारे, चकित सब लोकन किये।
हिन्दू-तुरुक अहंकार मिथ्या, वाद द्दग दर्शन दिये ॥१२०॥

मर्य्यदा पालन हेतु से, सह कला गुरु दीक्षा लई।
फिर स्वामि रामानन्द से, शिष की विविधि चर्चा भई॥

यहि देश ॥ धाम लैजा कै सुतु उपदेश। मिटै सब जन्म मरण भव क्लेश। सुनि अकाश वाणी विमल, चकित भयो चितमाहिं। तियहिं कह्यो लै चल घरै, अब मैं बरजौं नाहिं ॥ वहन लगी मुद मय मलय समीर ॥ प्रगट भये० ॥ प्रभु जोलाहे के घर आये। सन्त सब दरशन को धाये। सुमन सुर नभ से वरषाये। विरदयश वन्दीजन गाये ॥ दीन-बन्धु करुणा भवन, शमन सकल दुख द्वन्द्व। पंथ चलायो जगत् में, करि गुरु रामानन्द ॥ मेटि धर्मदास की भव-निधि पीर ॥ (प्रगट भये)

(कबीर सङ्गीत मणिमाला ८५)

लावनी रंगत लँगड़ी

करुणा भवन कबीर, समन भव पीर वीर विग्रह[१] धारी।
अति उपकारी कमल दल प्रगटे निज इच्छा चारी ॥ टे० ॥
कुन्द इन्दु अनुरूप[२], देखि वपु[३] अति अनूप मन [४]मथलाजे।
करत पराजय, कौमदी[५] दिव्य वसन भूषण साजे ॥
दिपति[६] अमितमणि जटित, तड़ित[७] आभाजित[८] शीशमुकुटराजे।
तिलक मनोहर भाल शुचि सुमन माल उर में भ्राजे ॥
निरविकार अकार निर्मल, नित्य मुक्त निरा मयम्।
निजानन्दा कन्द, स्वच्छन्द मद्भुत मद्वयम् ॥
निर निमित्य परार्थकारी, निरममत्त्व[९] मुदालयम् ॥

---

१ शरीर, २ सदृश, ३ शरीर, ४ कामदेव, ५ चन्द्रमा का प्रकाश, ६ प्रकाशित, ७ विद्युत, ८ प्रकाश को जीतने वाला ९ अभिमान रहित।

निरविवाद विवाद निरगत, निष्प्रपञ्च सनिर्भयम् । भ्रान्ति ध्वान्त[१] ध्वंसक प्रधान, निर भ्रान्ति विमल विद्या धारी । अति उपकारी, कमल० ॥१॥

मुद मङ्गल मय वेष, सुखद सर्वेश सर्व विद ज्ञानी ।
निर अभिमानी, विगत मल द्वेष क्लेशहत निरवानी[२] ॥
ध्यावत सन्त महन्त, अन्त नहिं पावत है ज्ञानी ध्यानी ।
परम सयानी, भारती[३] चकित होत वरणत वानी ॥
यस्य विविध चरित्र, चारु विचित्र सुरसरि निरमलम् ।
[४]वकनि मज्जि[५] मराल, काकः पिक[६] भवन्ति निरगलम्[७] ॥
सिद्ध मुनि योगीन्द्र, यति सुर वृन्द्र वन्द्य पदुत्पलम् ।
शेष वदत अशेष मुख, गुण शक्यते न कथेत्पलम्[८] ॥
योग दण्ड धारी अखण्ड पाखण्ड प्रचण्ड खण्डन कारी ।
अति उपकारी कमलदल० ॥ २ ॥

सेवक सुखद कृपाल, काल कलि व्याल खगेश्वर[९] अति अभिराम ।
धाम सुधा मय, साम[१०] गावत निशि-वासर जेहि गुण ग्राम ॥
नाम जाप जपि विमल होत जन, मनन शील मुनि वत निष्काम ॥
वामदेव[११] सम प्रसन्न सेवत भवन्ति प्रभु पूरण काम ।
धर्म धुरीण प्रवीन गति, मति अति अपार विशारदम्[१२] ॥
अज्ञान हरण प्रधान निगदित[१३] ज्ञान भवनिधि पारदम् ।
वेद वोधित कर्म [१४]वर्म विचार सार अंसारदम् ।
आपत्तिहर सम्पत्ति सुख, प्रति पत्ति[१५] प्रचुर[१६] प्रकारदम् ॥
वरदायक वरदेश विनायक, विश्वविदित वर ब्रह्मचारी ।
अति उपकारी, कमलदल० ॥ ३ ॥

---

१ अंधकार, २ मोक्षरूप, ३ सरस्वति, ४ स्नान करि, ५ हंस, ६ कोयल, ७ सत्य, ८ पूर्ण, ९ गरुड़, १० सामवेद, ११ महादेव, १२ विद्या, १३ कहा हुआ, १४ कवच, १५ पत्ति, १६ वहुत ॥

सत्संग स्वतः प्रभाव ते, गुरु-देव की द्विधा गई।
स्वयं सहजा नन्द से, चैतन्य में समिता भई ॥१२१॥

हिन्दू-तुरुक सिद्धान्त में, बहु कालिमा दर्शावहीं।
इस हेतु दोनों दीन ने, बहु द्वेष द्वन्द्व मचावहीं॥
निर्पक्ष तत्त्व प्रदान हीं, वर आप का सिद्धान्त था।
पर-पक्ष पाती मान ते. सिद्धान्त इनका भ्रान्त था ॥१२२॥

लोदी सिकन्दर क्रूर ने, तेहि समय काशी आयऊ।
कब्बीर के मत भेद को, दोउ दीन जाय सुनायऊ॥
कस्सनी विकट बावनलई, पुनि हारि पद-शिर नायऊ।
शाह को स्वाधीन करि, सब लोक शोक मिटायऊ ॥१२३॥

बलहार दोनों वर्ग ने, कब्बीर का मत है सही।
मुख से तो सब कहने लगे, अन्तर कुटिलता ही रही॥

अति अनल्प तर कल्प, सत्य संकल्प अखिल अन्तर यामी।
अपर[1] त्रिविष्टप[2] परात्पर प्रवर परम[3] तर सुख धामी॥
अविनाशी अव्यक्त, अजर अज अपर चराचर के स्वामी।
अधम उधारण, तरण तारण निज अनुगामी[4]॥
यं विधिर्वरुणेन्द्र इन्द्र, सुरा, स्तुवन्ति[5] निरन्तरम्।
चिद्घनं दिव्यं ह्यमूर्तिं, पूरुषेति परात्परम्॥
निराकार निरीह निर्गुण, किञ्चिदस्ति न तत्परम्।
कञ्जपर्ण समुद्भवं, पारद[6] भवाब्ध्यति दुस्तरन्॥
धर्मदासदासानुदास, भवदीय दास आज्ञाकारी।
अति उपकारी, कमलदल प्रगटे निज इच्छाचारी॥ ४ ॥ २॥

(क० स० ८६)

---

१ इधर, २ स्वर्ग, ३ अतीव, ४ सेवक, ५ स्तुति करते हैं, ६ पार करने वाले॥

श्रद्धालु भी बहु आप के, उनको महामुदिता रही।
आनन्द से सत् भक्ति में, लवलीनता दृढ़ता गही ॥१२४॥
निर्पक्ष निष्ठावान को, शुचि स्वसंवेद बुझायऊ।
हिन्दू-यवन दोऊ दीन में, गुरु-पीर[1] नाम धरायऊ॥
चरित अगम अनन्त करि, भव-भाव-भ्रान्त नशायऊ।
सत्पुरुष समथ-दीन-वत्सल, कृपा-सिन्धु कहायऊ॥१२५॥
फिर जीवनों निस्तार हित, अद्भुत कला प्रकटायऊ।
सत् लोक से निज अंश को, संसार माहिं बुलायऊ॥
सुकृत पुरुष के अंश वर, निज लोक के हित हेतु हैं।
नाशक तमा-तम-भानु वत्, भव-उदधि में जिन सेतु हैं॥१२६॥

श्री सुकृत साहेब (धर्म्मदास जी साहेब) का आविर्भाव

सुकृत सहानू भूत-हित, निज लोक त्यागि पधारेऊ।
रम्य बाँधौ गढ़ समझ, आलोक प्रद पग धारेऊ।
वैश्य वण कशौंध "मान महेश", तहाँ सख्यात थे।
धार्मिक विसदसह भक्ति सों, धनपात्र पुर विख्यात थे॥१२७॥
"लक्षणावती" उनकी प्रिया, सो थी प्रथम गर्भावती।
पति के सदा अनुकूल रहती, चरण उनके ध्यावती॥
सम्बत् पंद्रह शत्त बोनइस, मास कार्तिक जानिये।
शुक्ल द्वितीया लग्न तूला, दिवस "गुरु" शुचि मानिये॥१२८॥
अवतार लीन्हों पुत्र तब, तिय मुदित मङ्गल गावहीं।
विप्र-चारण आदि याचक, दान बहु विधि पावहीं॥
सुकृत सुअवसर समझ के, तेहि बाल उर प्रविशत भये।
उन हंस को शुचि ध्यान से, निज धाम को भेजत भये॥१२९॥

---

१ दोः—हिन्दू के सत गुरु सही, मुसलमान के पीर।
दादू दोनों दीन में, अदली नाम कबीर॥ १॥ (दादू)

अनुपम् सो बाल स्वरूप में, सुकृत स्वयं वासा किये ।
रोदन करत शिशुता कला, आनन्द सब लोगन दिये ॥
काया मया सम्बन्ध से, आनन्द की मुदिता गयी ।
तत्त्व अब प्रकृति गुण की, विषमता वृद्धी भयी ॥१३०॥

राखे "जुडावन" नाम कुलगुरु, बहुरि काल कला करी ।
रूप दास स्वरूप मिस शुभ, वेष वैष्णव का धरी ॥
देयि दीक्षा दास निज करि, सुमति सुकृत की हरी ।
षट् मास के अन्तर छला, कलि-कालिमा कौतुक भरी ॥१३१॥

सब काल की लीला समझ, सतगुरु कबीर कृपाल ने ।
तहाँ आप भी प्रकटत भये, भव-भीति हरण दयालु ने ॥
सम्बत् पंद्रह शत् बीस की, वैशाख शुक्ला त्रितिया ।
नखत "श्रवण"रु भौमवासर, विदित करि प्रवृतिया ॥१३२॥

सद्गुरू ब्राह्मण वेष में दर, "मान महेश" के आयऊ ।
"लक्षणावती" वर विप्र लखि, सुत आनि दर्श करायऊ ॥
बालक् सलक्ष्य विलोकि सद्गुरु, दम्पतिहिं समझायऊ ।
लक्षण अनन्त अनूप शिशु के, शास्त्र-श्रुति दर्शायऊ ॥१३३॥

भक्ति भजन अखंड ज्ञानी, सकल धर्म्म निधान हैं ।
योग ध्यान विवेक समिता, सत्य आदि प्रधान हैं ॥
जन्म-भूमि-पुनीत कारक, सकल भूषण सार हैं ।
परम-पावन सुयश याके, दिव्य गुण-निर्धार हैं ॥१३४॥

धन्यवाद सुमातु-पितु को, करहिं सब संसार में ।
सीमा नहीं तिन सुयश की, जनु-सेतु हैं भव-धार में ॥
जनक-जननिहिं मोक्षप्रद, विख्यात प्रेमागार में ।
गमना-गमन से रहित हों, शान्तात्मा निरधार में ॥१३५॥

रक्षण असंख्यन जीवनों कर, परम धाम पठाइहैं ।
आश-पाश-विमुक्त करि, भव-भ्रांति-त्राश मिटायिहैं ॥

संज्ञा "जुडावन" कष्ट प्रद, "धर्म्मदास" नाम अनूप है।
सुखद-पावन लोक त्राता, पूत-धर्म्म स्वरूप है ।।१३६।।

लक्षण-धरम-पावन सुनत, पितु-मात अति हर्षित भयो।
पूर्व पुण्य असीम आपन, समझि भव-संशय गयो ।।
महि देव को सनमान युत, पट-द्रव्य बहु देते भयो।
द्विज दान ले दिय अपर को, पुनि-गुप्त वह्वाँसे भयो ।।४३७।।

धर्म्मदास प्रति दिन बढ़त शिशुता, चपलता प्रकटित भयी।
तद्यपि अधिकाता शान्ति की, मुदिता-मृदुलता शुचिमयी।।
धिरता गंभीरता क्षम्यता, शुभ-शीलताइ नित नई।
हठता कठिनता धृष्टता, नहिं क्षोभता वस मति भई ।।१३८।।
बाल-पन् से ही स्वभाविक, भक्ति भाव प्रवीनता।
सहज सत्य उदार दिल्, परमार्थ-निष्ठ नवीनता ।।
निरभीक अमल अनीह-रत, अभिमान गत् स्वाधीनता।
कारुण्य पर-उपकारिता, विवेक दृढ़ अवछीनता ।।१३९।।

नियम-धर्म अचार शुद्ध, अकाम अचल निवृत्तिता।
काम क्रोध प्रलोभ ममिता, आदि की न प्रवीनता ।।
मन् कर्म्म वाणी से सदा, सद्धर्म को सेवक बने।
तथा-दुष्टाचार दुख प्रद, विषय कर्मन को हने ।।१४०।।
विद्या अध्ययन कराय जननी, जनक व्याह रचायऊ।
पाणि-ग्रहण करि नारि का, सपत्नि निज गृह आयऊ।।
"आमिनी" "धर्म्मदास" मानो, धर्म की प्रतिमा दोऊ।
पति-व्रत निष्ठिति "आमिनी", ताते न धर्म्म खण्डित् कोऊ।।१४१।।

आयी तरुणता-विकट-निकट, प्रवाह-विषय-नदीश का।
जह्वाँ न-पद ठहराय अविचल, ज्ञान-ध्यान यतीश का।।
तद्यपि-अखंड अडोल थे, धर्म्मदास शुद्ध सद्धर्म में।
निर्लिप्त-विषय-विकार सन्तत्, तीव्र-लीन स्वकर्म में ।।१४२।।

ऐश्वर्य षट् संयुक्त याते, हैं प्रशक्त न राग में।
योग-भोग समान जानत, ताते रुचि-न विराग में ॥
साधन चतुर सम्पन्नता चित्, है सदा उपराम में।
विपिन में विसराम जैसा, तथा वासा ग्राम में ॥१४३॥

किन्तु-कला-कृतान्त की, सो-समझ में आती नहीं ॥
प्रेरक सबीका अपर कोऊ, दृढ-भ्रान्ति यह जाती नहीं।
गुरु-देव की शिक्षा यथा, धारण तथा विश्वास था।
इस हेतु कल्पित् कल्पना की, मान्यता में दास था ॥१४४॥

गुरु-रूप दास विठलेश की, थी मोक्ष प्रद शिक्षा यही।
प्रतिमा-स्वरूप रमेश की, करो-अर्चना चर्चा तेही ॥
चौविष वपुष धारण कियो, जन हेतु लीला धाम हैं।
तिनके चरित कीर्त्तन भजन, निश्चिन्त ललित ललाम हैं॥१४५॥

जप याग योग विराग तप, व्रत दान तिनहित चाहिये।
करने सदा सत् कर्म धर्म्मरु नियम अघ क्रम दाहिये॥
तीरथ तथा प्रभु-धाम दर्शन, करन जन-हित हेतु है।
भव-सिन्धु में बहते हुए को, मनो अविचल सेतु है ॥१ ६॥

उपरोक्त कल्पित् कल्पना, धर्म्मदास उर अविचल जमी।
पालन करहिं सः प्रेम सब को, नियम में नहिं कछु कमी॥
संसार-सिन्धु-प्रवाह में, इक नाम मात्र जहाज है।
सेवन करै सः प्रेम बिनु श्रम, सिद्ध सकलो काज है ॥१४७॥

यहि आश-निज उर राखि के, धर्मदास भ्रमते तीर्थ में।
भक्ति भजन लवलीन मन, नहिं समय खोते व्यर्थ में॥
इक बार मथुरा आयऊ, मन-मग्न भगवत-प्रेम में।
करके स्नान विधान पूजन, लगि रहे निज नियम में ॥१४८॥

तब लोक त्राता परम-पावन, पुरुष हृदय विचारेऊ।
भव-भीति भंजन हेतु सुकृत, विश्व में पग धारेऊ ॥

सो स्वयं जडता विवस, अध्यास के आश्रित् भयो।
काल चक्र कराल में पड़, भ्रान्ति-दधि में गिरि गयो ॥१४९॥
अव मैं स्वयं चलकर चिताऊं, भ्रान्ति-श्रान्ति नशायके।
शुद्ध-शान्त स्वरूप-पावन, बोध ज्ञान दृढाय के॥
सद्‌गुरु "कवीर" कृपालु ने, तत्काल आप पधारेऊ।
जिन्दा स्वरूप वनाय के, कल्पित अबोध प्रहारेऊ ॥१५०॥

धर्म्मदास-जिन्दा समागम।

सम्वत् पंचदश पचास में, धर्म्मदास प्रतिबोधत भयो।
सत्संग-भान-विकाश करु, दृग अज्ञ-पट खोलत भयो।
धर्मदास जी! परमार्थ प्रापक, आप सहज सुजान हैं।
विद्या-अविद्या की कला, पहिचानते-गत मान हैं ॥१५१॥
सुनिये कछुक कटु वैन मेरा, शान्त करि निज रोष को।
सत्संग-हित अनुचित कहौं, सो-क्षमा करि मम दोष को॥
मोक्षार्थी कर्तव्य क्या ?, गमनाऽगमन किमि नाश हो ?।
त्रय-ताप-पाप-विनष्ट जाते, पुनि न सहना त्राश हो ॥१५२॥
प्रतिमा-के सेवन मात्र से, पूर्वोक्त होते कार्य हैं ?।
या-अपर-कोऊ धर्म्म हैं ?, जेहि सेवते सब आर्य हैं॥
उक्तार्थ सव समझायिये, श्रुति-शास्त्र सन्तन मान्य हो।
संशय-विपर्य्य रहित-निश्चय, शुद्ध ज्ञान जो मान्य हो ॥१५३॥
शाल ग्राम-गंडकि-तनय-जड़, पाषाण की बढ़िया अहैं।
प्रतिमा-स्वरूप-गोपाल-राम, "अचेत" किमि संशय[1] दहैं ?॥

---

१ सा०—सूरतिधरि धंधा रची, पाहन कै जगदीस।
मोल लिये वोले नहीं, खोटा विस्वा वीस॥ १॥
कविरन भक्ति विगारिया, कंकर पत्थर धोय।
अन्तर में-विष राखि के, अमृत डारिन खोय॥ २॥
(वीजक २५१)

परम पीर गँभीर दुख प्रद, भवधि-विकट विशाल है।
तीरथ सलिल किमि तारिहैं?, ये यथार्थ या-भ्रम[१] जाल है?॥१५४॥

रेखता—फोड पाषाण को पूज्य ही थापिया, आप कर्ता हुआ देख दूजा। तोडि सर जीव अरु पूजि निर्जीव को; कहो क्यों मानि हैं राम-पूजा ? ॥ कर्म-माथे चढै सांच सूझै नहीं मानता है मैं करत पूजा। कहैं कवीर नर अंध चेतैं नहीं, फूट चारो गई पड़ा दूजा ॥ १ ॥ (शब्दामृत सिन्धु प्र० ३६२)

श्लोक—न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये ॥" (चा० ८।१२)

टीका—देवता काष्ठ में नहीं है न पाषाण में है न मृतिका की मूर्ति में हैं ॥ १ ॥

चौ०—यह घट में विलसत को आहीं ?। अहो साहु तेहि चीन्हहू नाहीं ॥ १ ॥ जव लगि ताहि न चीन्हहू भाई। पाहन पूजत जन्म गँवाई ॥ तुमको अहहु कवन घटमाहीं। ताहि साहु तुम चीन्हहू नाही ॥

जो धरिया महँ वोलत भाई। काहि नाम तेहि कहहु बुझाई ॥
ताहि न भजहु साहु के पूता। कस पूजहु पाहन भ्रम भूता ॥

(ज्ञान-प्रगाष)

चौ० - ज्ञान-दृष्टि से चीन्हो वानी। पाखँड-पाहन पाखँड पानी ॥
करता पाखँड कवहूँ न होई। यह संसय सव दुनी विगोई ॥
सालिग राम है वोल निहारा। देह रूप हैं साज हमारा ॥

(अमर-सुख निधान ग्र०)

१ सा०—तीरथ गये ते वहि मुये, जूडे पानि नहाय।
कहँहिं कवीर सुनो हो सन्तो, राच्छस होय पछिताय ॥ १ ॥
तीरथ भइ विष बेलरी, रही जुगन जुग छाय।
कविरन मूल निकन्दिवा, कौ न हलाहल खाय ॥ २ ॥

(वीजक सा० २१५।२१६)

सा०—ऐसी गति संसार की, ज्यों गाडर का ठाट।
एक परा जेहि गाड में, सभै गाड में जात ॥ १ ॥

चौ०—पूजहिं पाहन तीर्थ नहाहीं। पाप पुंन वस आवहिं जाहीं ॥
कोटि कोटि जो तीर्थ नहाई। सत्त नाम विनु मुक्ति न पाई ॥
(ज्ञान प्रकाश)

श्लोक—आजन्म मरणान्तं च गङ्गादि तटनि स्थिताः।
मण्डूक मत्स्य प्रमुखा योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥ १ ॥
(ग० पु० सारोद्धार आ० १६।८६)

टीका—जन्म से लगाकर मरने के अन्त तक गंगादि नदियों में स्थित मेंढक (मेजका) मछली आदि कहाँ योगी हो जाते हैं अर्थात् योगी नहीं होते हैं, तव अतत्त्व ज्ञाता तीर्थ वासी आदि कैसे योगी (मुक्त) हो सकते हैं अर्थात् वे मुक्त नहीं हो सकते हैं ॥ १ ॥

श्लोक—भ्रमन् सर्वेषु तीर्थेषु स्नात्त्वा स्नात्त्वा पुनः पुनः।
निर्मलं न मनो यावत् तावत् सर्वं निरर्थकम् ॥ १ ॥
(देवी भा०)

टीका—मनुष्य समस्य तीर्थों में वार वार स्नान कर ले किन्तु जव तक मन निर्मल (निष्पाप) स्वच्छ नहीं होता, तव तक सर्व स्नान निरर्थक होता है।

श्लोक—अन्तर्गत मलो दुष्टस्तीर्थ स्नान शतैरपि।
न शुध्यति यथा भाण्डं सुराया दाहि तंच तत् ॥ १ ॥
(चा० नी० अ० ११।७)

टीका—जिसके हृदय में पाप है वही दुष्ट है, वह तीर्थ में सौ वार स्नान से भी शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरा का पात्र जलाया भी जाय तौ भी शुद्ध नहीं होता ॥ १ ॥

और जव मन शुद्ध हो जाता है, तव तीर्थ से कुछ प्रयोजन नहीं रहता। यथा—

श्लोक—मनोवाक्काय शुद्धानां राजंस्तीर्थः पदे पदे ।।" (देवी भा०)

टीका—हे राजन् ! मन कर्म और वाक्य (वाणी) से जो शुद्ध है उसके प्रतिपद पद में तीर्थ विराजमान है ।। १ ।।

"शुचि मनोयद्यस्तितीर्थे न किम्"

टीका—यदि मन स्वच्छ है तो तीर्थ से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं इसी तात्पर्य्य से कहा गया है कि, शुद्ध मन ही सर्वोपरि श्रेष्ठ तीर्थ है ।

"तीर्थ परं किं स्वमनो विशुद्धम्" (प्रश्नोत्तरि)

प्र०—परमतीर्थ कौन है ? उत्तर—अपने मन की शुद्धता । ऐसे निकटस्थ तीर्थ को त्याग कर जो वाह्य देश देशान्तर के तीर्थों में भ्रमण करता है वह तामसी मनुष्य कहा गया है ।

"इदम् तीर्थ मिदम् तीर्थं भ्रमन्ति ताम साजनाः ।।" (कपिल गीता)

टीका—शिव जी कहते हैं कि, हे पार्वती ! तामसी मनुष्य ही यह तीर्थ है, वह तीर्थ है ऐसी कल्पना कर दूर-दूर देश देशान्तरों में सदा घुमा करते हैं, और तामसी पतित माने गये हैं ।"

"तथा प्रलीनस्तमसि मूढ योनिषु जायते ।।" (गी० १४।१५)

टीका—तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ योनियों में उत्पन्न होता है ।। १५ ।।

"प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञान मेव च" (गी० १४।१७)

टीका—तथा तमगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है और अज्ञान भी होता है ।। १७ ।।"

"जघन्य गुण वृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ।।" (गी० १४।१८)

टीका—वैसे ही तमोगुणी नीचे के लोकों (नरक) में प्राप्त होता है ।।

इस कारण वाह्य तमोगुणी तीर्थ की अपेक्षा आन्तरीक सतोगुणी-तीर्थ श्रेयस् कर है ।। यथा—

सा०—मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जान।
दस द्वारे का पिंजरा, तामें ज्योति पिछान ॥ १ ॥
(सा० ग्र०)

"कोटि-कोटि तीरथ करे, कोटि कोटि करे धाम।
जब लगि साधुन सेवई, तब लगि सरेन काम ॥ २ ॥
(सा० ग्र०)

भजन—गुरु दरि आव नहाना हो, ताके दुरमति भागे। गुरु दरि आव सदा जल निर्मल, पैठत उपजत ज्ञाना हो ॥ जब लनि गुरु दरि आवन पावे, तब लगि फिरत भुलाना हो ॥"

श्लोक—ज्ञान ह्रदे सत्य जले राग द्वेष मला पहे।
यः स्नाति मान से तीर्थं सवै मोक्षमवाप्नुयात् ॥ १ ॥
(ग० पु० सारोद्धार)

टीका— ज्ञानरूप कुंड में सत्यरूप जल है, वह राग तथा द्वेषरूप मल को दूर करने वाला है, ऐसा मानस तीर्थ में जो स्नान करते हैं, वह मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

श्लोक—स्नानं तेन समस्ततीर्थ सलिले दत्तापि सर्वावनिर्यज्ञाना च कृतं सहस्र मखिला देवाश्च संपूजिताः ॥ संसाराच्च समुद्धृताः स्वा पितरस्त्रै-लोक्य पूज्योप्यसौ यस्य ब्रह्मविचारेण क्षणमपि स्थैर्थ मनः प्राप्नुयात् ॥१॥
(सिद्धान्त मुक्तावली)

टीका—ब्रह्म विचार में जिसका मन क्षणमात्र भी स्थिरता को प्राप्त हुआ वह गंगादि समस्त तीर्थों में स्नान किया, तथा समग्र पृथ्वी का दान किया हजारों यज्ञ किया और सब देवतों का पूजन कर लिया। अपने सर्व पित्रों को संसार से उद्धार किया और समस्त गति प्राप्त किया और आप वह त्रैलोक्य पूज्य हुआ ॥ १ ॥ ऐसे सर्वोपरि मोक्षप्रद तीर्थ त्याग कर यत्र-तत्र भ्रमण करना भ्रान्तिप्रद है ॥

ह० छं०—सुनि चकित उर "धर्म्मदास"जी, मानश भवन चर्चन लगे।
मम नाम इनको ज्ञात किमि ?, चिन्तत सकल संशय भगे ॥
अध्यास-भास समूल गत, अन्तःकरण जनु जगमगे !
परमेश जिन्द स्वरूप में, ये निश्च ही आये जगे ॥१५५॥
रवि-दर्शते आदर्श में, पावक[1] प्रकट जिमि होत है।
तथा जिन्द प्रभाव ते, "धर्म्मदास" घट जगि ज्योति है ॥
शशिदर्शते विधु-कान्ति मणि में, द्रवति अमि की धार[2] है।
तथा जिन्द विलोकते, "धर्म्म" हृदय द्रवत विचार है ॥१५६॥
"धर्म्मदास" कहे शिर नाय, बाबा जिन्द जी ! सुनि लीजिये।
अनुचित कहौं शिशुता विंवस, हे प्रभु ! क्षमा सो कीजिये ॥
गुरुदेव जो करिके कृपा, मोक्षार्थ हेतु बुझायऊ।
सो सहज नियम स्नेह-नित नव, दास "मैं" उर लायऊ ॥१५७॥
दास उर विश्वास अविचल, रहन ही जिज्ञास है।
मन कर्म्म वाणी से सदा, "गुरु" वचन पालक दास है ॥
इतिहास[3] शास्त्र पुराण सज्जन, सकल सम्मत सार है।

---

१ दो०—सूर्य्य दर्श आदर्श ज्यों, होत अग्नि उद्योत।
तैसैं गुरु प्रसाद तैं, अनुभव निर्मल होत ॥ १ ॥
२ दो०—जिमि चन्द्रहिं लहि चन्द्रमणि, अमी द्रवत तत्काल।
गुरु-मुख निरखत शिष्य के, अनुभव होत विशाल ॥ २ ॥
(विचार माला वि० १०।११)
३ चौ०—गुरुके वचन प्रतीति न जेही। स्वपनहुँ सुलभ न सुख सिधि तेही॥१॥
(रा० वा०)
श्लोक—स च शिष्यः स च ज्ञानी य अज्ञा पालयेद्गुरोः।
न क्षेमतस्य मूढस्ययो गुरोर वचस्करः ॥ १ ॥
(गु० गी० ७७)

मोक्ष प्रद गुरु की कृपा[१], सिद्धान्त यह निर्धार है ॥१५८॥
इस हेतु करुणा पात्र गुरु का, दास जग विख्यात है ।
ताते मुझे विश्वास गुरु पद, प्रेम मुक्ति प्रदात है ॥
इतिहास तथा पुराण मत, श्री विष्णु शालग्राम हैं ।
अवतार धारण किये जनहित, हेतु पूरण काम हैं ॥१५९॥
प्रतिमा स्वरूप अनूप करुणा गार, राम-गोपाल हैं ।
व्याप्य व्यापक विश्व मय, परमेश परम कृपालु हैं ॥
अर्चन भजन तिनकर किये तैं, मिलति मुक्ति अमान हैं ।
सन्देह गत सिद्धान्त यह, या में अनन्त प्रमाण हैं ॥१६०॥
यातें सुजन जन मुदित मन, सेवन करहिं भगवन्त को ।
अपर आश भरोश गत, सानन्द पावहिं कन्त को ॥

टीका—जो मनुष्य विना विचार करते हुए गुरु की आज्ञा पालन किया करता है वही यथार्थ में शिष्य है वही यथार्थ में ज्ञानी है; और जो गुरु वाक्य में अश्रद्धा करता है उस मूढ का कभी मङ्गल नहीं होता ॥ १ ॥

श्लोकस— पण्डितः स च ज्ञानी स क्षेमी स च पुण्यवान् ।
गुरोर्वचस्करोयोहि क्षेमं तस्य पदे-पदे ॥ १ ॥

(ब्रह्मवैवर्त पु० व० २३।७)

टीका—वही वास्तविक पण्डित है और वही सच्चा ज्ञानी है तथा वही कल्याण कर्त्ता और वही पुण्यशील पुण्य करनेवाला है; जो गुरु वचन का पूर्णरूप से पालन करता है, उसका प्रतिपद पर कल्याण ही कल्याण होता है ॥ १ ॥

१ श्लोक—मंत्र मूलं गुरोर्वाक्यं मोक्ष मूलं गुरोः कृपा ॥ १ ॥

(गु० गी० १६)

टीका—गुरु वाक्य ही सब मन्त्रों का मूल है और गुरु की कृपा ही मुक्ति प्राप्त करनेका प्रधान कारण है ॥ १ ॥

तीरथ प्रच्छालन पाद प्रभु के, नीर जन पावन करैं।
दारुण अविद्या कल्पना, अघ ओघ[1]विषयन-विष हरैं॥१६१॥
कहैं जिन्द सुनो धर्म्मदास जी ! शुचि-ध्यान करि के देखिये।
मानव शरीर अलभ्य ताते, विमल-मति से पेखिये॥
वीवेक साधन प्रथम हैं, निर्णय सदसद् कीजिये।
माया प्रपञ्च अनित्य ताते, परख कर तजि दीजिये॥१६२॥
आप से जो श्रेष्ठ हो सेवन, उचित उसका भला।
चैतन्य तुम जड देव सेवत, भ्रान्त-मत कल्पित कला॥
नहिं जो परीक्षा सत्य की, चैतन्यता सिद्धी नहीं।
अविवेकता तो है यही, शुचि ज्ञान की वृद्धी नहीं॥१६३॥
जड़ देव शालग्राम जो, क्या ज्ञान-ध्यान सिखायिहैं।
या आप सम जड़वत् करैं ?, सह मूल बोध नशायिहैं ?॥
चैतन्य श्री भगवान तो, पतिव्रत धर्म्म छोडायऊ।
वृन्दा[२] के दारुण शाप से, नग-रूप स्वांग वनायऊ॥१६४॥
धर्म्म नाशक-देव जड़, दें मोक्ष क्या अश्चर्य है ?।
चैतन्यता कहते इसे ?, या गलत् फहमी गर्ज है॥
अश्ल नहिं जब मोक्ष प्रद[२], तब नकल की क्या बात है ?।
भ्रान्ति प्रद शिक्षा यही, अथवा महा अपघात है॥१६५॥

---

१ चौ०—एक कलरसुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे॥
शंभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरै न मारा॥
परमसती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जीत पुरारी॥
दो०—छल करि टारेउ तासु व्रत, प्रभुसुर कारज कीन्ह।
जब तेइ जानैउ मर्म सब, शाप कोप कर दीन्ह॥ १॥
(रा० बा० १३२)
२ चौ०—मैं हौं जिन्द सुनु वचन हमारा। तुम जनि होहु काल के चारा।
राम नाम सब दुनी पुकारे। राम अगिनि जो काठै जारे॥

मनुज तन की सफलता[1], स्व धर्म्म में लव लीन हो।
धर्म्म विगत-विचार शून्य, मलीन मन अघ[2] पीन हो॥

काहे न सुरति करो घट माहीं। चीन्ह चीन्ह बूडो भव माहीं॥
जिन्हैं कहत हौ नन्द के लाला। सो तो भये सवन के काला॥
छल वल करि वे सव छलि डारे। पांडव जायहिवारे गारे॥
पांडव सम को भक्त कहावा। तिनहुँ को काल वली भर मावा॥
दशरथ सुत कहिये श्रीरामा। तिनहुँन चीन्हों काल अकामा॥
करता राम कस भै मतिहीना। कपट मृगा उनहुँ नहिं चीन्हा॥
दो०—दोउ करता विरतंत है, कीन्हे जम के काम।
जीव अनेक प्रलय किये, ऐसे कृष्ण अरु राम॥ १॥
चौं०—धर्मदास है नाम तुम्हारा। काहे न चीन्हों वचन हमारा॥
(अमर सुख निधान)

१ श्लोक—इदं शरीरं परमार्थ साधनं धर्मैक हेतुं वहु पुण्य लब्धम्।
लब्ध्वापियोनोविदधीत धर्मं मुधा भवेत्तस्य नरस्यजीवितम्॥१॥
(मदनमुख चपेटिका ८)

टीका—वहुत पुण्यों से प्राप्त होने वाले एक धर्म हेतु मोक्ष के साधन रूप इस शरीर को प्राप्त होकर भी जो मनुष्य धर्म का विधान (स्वधर्माचरण) नहीं करता है उस मनुष्य का जीवन व्यर्थ है॥ १॥

"जातोहिको यस्य पुनर्नजन्म"

टीका—प्र० संसार में कौन उत्पन्न हुआ है?

उ०—जिसका पुनर्जन्म न हो॥"

सूत्र—यतोभ्युदय निःश्रेयः स सिद्धिः स धर्माः"

टीका—जिससे अभ्युदय और कल्याण अथवा परमार्थ की सिद्धि हो वही धर्म है॥ (वैशेषिक सूत्र)

२ दो०—जोन तरै भवसागरहिं, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाइ॥ १॥
(रा० उ० ६६)

कल्पित स्वरूप बनाय बावन, बलि निकट श्रीपति गये।
छलि ताहि बाँधि पताल भेजे, घोर क्या ये अघ भये ॥१६६॥
क्या चूक थी बलिराज की ?, जेहि हेतु हरि इमि छल किये।
धर्मज्ञ सहज सुजान के, धन धाम आदिक हरि लिये॥
क्या धर्म्म की विपरीतता ?, परमेश में यह सोहती।
या काल ही की है कला ?, हनि धर्म जन को मोहती ?॥१६७॥
कर्तव्य घोर कराल कर्ता, को कहिये परमात्मा ?।
तो फिर अपर को काल है ?, जो हरत सकलो आतमा ?॥
दीन-वत्सल विश्व पालक, नाम जग विख्यात है।
कालिमा कल्पित कला, हरि कृति भी सख्यात है॥१६८॥
प्रतिमा स्वरूप कृपालु राम, गोपाल भव-भय नाशिहैं ?।
तो फिर अपर को विश्व में, [१]भ्रम चक्र में जिव त्राशिहैं ?॥
करके विवेक-विचार मन, कल्पित-कला पहिचान लो।
चैतन्य राम सुजान अरु, श्रीकृष्ण लीला जानि लो॥१६९॥

श्लोक—धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो नहन्तव्यो मानोधर्मो हतोऽवधीत ॥ १ ॥

टीका—मारा हुआ धर्म मारनेवाले का नाश और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है; इसलिये धर्म का हनन कभी न करना। इस डर से की मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डारे ॥ १ ॥

१ श्लोक—यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुख हेतवे।
तेते धुनोति भगवन् पुमान शोचतियत्कृते ॥ १ ॥
(भा० कपि० गी० ६।२)

टीका—सुख के अर्थ जिस जिस अर्थ को ये जीव दुःख करके ग्रहण करते हैं; उस उस अर्थ को भगवान् नाश करते हैं, तिस के लिये पुमान (पुरुष) शोच करते हैं ॥

निश्चर वधन ही के लिये, रघुनाथ वपु धारण[1] किये।
ताड़का सकुल सुबाहु को, सह सेन संहारण किये॥
तथा विराध कबन्ध को बधि, काल आनन में दिये।
खरदूषणादि सहस्र चौदश, एक क्षण में वध दिये॥१७०॥
तरु ओट दे शर एक मारे, वालि अति बलवन्त को।
करके विवेक विचार लो, शुचि-धर्म-रत भगवन्त को॥
यह पक्षपातिकि न्याय है ?, करि लो मिमांसा अन्त को।
समझो सचित्र चरित्र अद्भुत, सहज कमला कन्त को॥१७१॥
सुग्रीव को भय-भीत कर कपि-रीक्ष कटक सजायऊ।
दण्डित किये जड़ जलधि को, ऊपर से सेतु बँधायऊ॥
जाकर विभीषण बन्धु से, सब समाचार सुनायऊ।
नहिं राम नर भूपाल हैं, "महाकाल"[2] कालहुँ खायऊ॥१७२॥
माना नहीं लंकेश ने, अभिमान बस निज जय चहा।
छल-बल विपुल कर थकित हो, संग्राम-सागर में बहा॥
त्रिय लोक को स्वाधीन[3] करिके, जे तमीचर गाजहीं।
सो मृत्यु के स्वाधीन होकर, समर शय्या राजहीं॥१७३॥

---

१ चौ०—जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेशा। तुमहिं लागि धरिहौं नर वेषा॥
हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥
(रा० बा० २०९)

२ चौः—तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥

३ दोः—सप्त द्वीप-नव खण्ड लगि, सप्त पताल आकाश।
कम्पमान धरणी धसत, सारेतप तिन्ह मन त्रास॥ १॥

चौः—ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दशमुख वशवर्ती नर नारी॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरण विनीता॥

दोः—भुजवल विश्वहिं वश करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र।
मण्डलीक महि रावण, राज करै निज मंत्र॥ १॥

प्रबल-काल कराल राक्षस, अमित जीव नशायऊ।
तिन्ह् सकल काल संहार के, "महाकाल"[१] राम कहायऊ॥
राम उर प्रेरक सवी का, ब्रह्म नाम धरायऊ।
फिर अपर को क्रीडा करत ?, को त्रिजग सृजि नशायऊ॥१७४॥

जब आप सब को सृजत्-पालत, हरत सब को आप है।
सो-रमत् राम सदा रमा में, "महा काल" प्रताप है॥
किमि सो-मुकुन्द अखण्ड अविचल ?,अभय-पद दातार है ?।
अल्पगहू नहिं करि सकैं, निज कृति मूल उजार हैं॥१७५॥
परमपद को प्राप्त कर, जो जीव भव नहिं आइहैं।
फिर प्रजाको संसार में ?, जेहि स्वामिराम कहाइहैं ?॥
इस हेतुहरि नहिं मोक्षप्रद, संसार का साधक सदा।
बाधककला दिखलाय के, शुचि धर्म्मको करते रदा॥१७६॥
जब अश्ल की ऐसी दसा, तव नक्लकी क्या बात है ?।
स्वप्न में नहिं मोक्षप्रद, प्रतिमा सकल जग ख्यात है॥
लीलाललित यदुनाथ की, शिशुता कलाहि विचारलो।
फिर प्रोढकी क्या वारता ?, कश्मल समक्ष निहारलो॥१७७॥
जेहि कहत समझत सुनत व्रीडा, होति सज्जन वृन्दको।
चरित विविध विभत्समय, परिहास करते निन्दको॥
चीर-हरण चरीत्र चित्रित, दधी चोरी आदि हूँ।
रासलीला हास्य-रसमय, बहुविनोद प्रमादि हूँ॥१७८॥
कौतुक मनोहर विविध कर,गिरिराज-नख पर धारेऊ।
भेजे हुए नृप कंश के, बहु असुर प्रबल प्रहारेऊ॥
सहस सोलह गोपियों के, प्रेम कर परित्यागेऊ।
कैसी निठुरता छल करी ?, कुब्री से मधुपुर पागेऊ॥१७९॥

---

१ दोः—काल कोटि शत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरंत।
घूम्रकेतु शत कोटि सम, दुराधर्ष भगवन्त॥ २ ॥ (रा. उ.)

कुवल पीउ चाणूर मुष्टिक, कंश मातुल मारेऊ।
कंश के सहकारियों को, सहज में संहारेऊ॥
सप्तदश अक्षोहणी दल, सहज में संहारेऊ।
जरासेन्ध नरेन्द्र को तेहि, कृष्ण गर्द मिलायऊ ॥१८०॥

कालयवन मलेच्छ दल सजि, समर-हित चढ़ि आयऊ।
कौशल कला दर्शाय हरि, तत्काल ताहि जलायऊ॥
शयन में मधुपुर निवासिहिं, द्वारिका पहुँचायऊ।
आपरण से भागकर, रणछोड़ नाम धरायऊ ॥१८१॥

माया रचित द्वारावती में, सह कुटुंब विराजेऊ।
प्राप्त षड् ऐश्वर्य नित नव, मोद मंगल गाजेऊ॥
रुक्मिनी को हरण करि, शिशुपाल मन मर्दन किये।
सबल कटक निपातिके, अति रुक्मको दण्डन दिये ॥१८२॥

छल-बल विविध प्रकटायके, बहु नृपन मान मिटायऊ।
भुज-बल प्रचण्ड प्रताप से, बहुपत्नि सादर पायऊ॥
शम्बर दैत् रण विजय करि, निज तनय व्याह रचायऊ।
प्रबल बाणाशूर हनि, पाऊत्र पत्निहि ल्यायऊ ॥१८३॥

पाण्डवन कौरव परस्पर, बैर भाव बढ़ायऊ।
राज-हित इर्षा विवष द्वेषाग्नि, उर प्रकटायऊ॥
यथा शलभ-प्रदीप में, हो पतित प्राण नशावहीं।
तथा-विश्व-महीश रण-हित, हेतु-स्वेच्छित ध्यावहीं ॥१८४॥

सिन्धुवत् उमड़ी हुई, सेना प्रबल चतुरंगिनी।
दुहुँ ओर की को कहि सकै? प्रज्ञा अपक्ष विहंगिनी॥
दोऊ दल उपस्थित मध्य में, अर्जुन सगोत्र बिलोकेऊ।
विस्मृतिता तनु की दशा, बर-बस बिकलता रोकेऊ ॥१८५॥

उद्विग्नता हृदय महा, त्वक् दाहयुत रोमांच है।
श्रीहत् वदन कम्पित वपुष, मानो लगे नाराच है॥

ललित युगल विशाल लोचन, बहत-नीर प्रवाह है।
कंठ गद्-गद् सहज करुणा, वचन निकलत दाह है ॥१८६॥
कर जोरि बोले [1]कृष्ण से, प्रभु-दीन-बन्धु दयालु हो।
भक्त-वत्सल-पतित-पावन. प्रणत-पाल कृपाल हो॥
प्रतिमा सरिस मेरी दशा, कछु समझ में आता नहीं।
क्या उचित है कर्त्तव्य मेरा ?, मोह-तम जाता नहीं ॥१८७॥
निज-बन्धुओंको मार मोहिं, त्रियलोक[2] सुख भाता नहीं।
मुझको भले वे मारहां, मोहिं लेश भय आता नहीं॥
जिनके बिना संसार में, जीना मुझे दुःख भार है।
वे ही स्वजन-हित युद्ध के, ठाढ़े प्रबल अहंकार है ॥१८८॥
पूज्य गण जिनके चरण, सेवन मुझे करने भले।
जिनके किये अण्मान ते, यम-पाश डारत हैं गले॥
यद्यपि मदान्ध प्रमाद वस, वे मानते नहिं पाप को।
तद्यपि विवेक विचार युत, मोहिं उचित तजना दापको ॥१८९॥
स्वीकार भिक्षा वृत्ति को, निर्वाह करना धर्म है।

---

१ श्लोक—गुरुनहत्वाहि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीहलोके।
हत्वार्थ कामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिर प्रदिग्धान् ॥ १ ॥

टीका—अर्जुन कहते हैं कि, महान गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूं, क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा ॥ १ ॥

२ श्लोक—एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किं नुमहीकृते ॥ १ ॥

टीका—अर्जुन कहते हैं कि, हे मधुसूदन ! मुझे मारने पर भी अथवा तीनलोक के राज्य के लिये भी मैं इन सबों को मारना नहिं चाहता, फिर पृथिवी के लिये तो कहना ही क्या है ॥ १ ॥

पर राज सुख प्रलोभ हित, परिवार बध [१]अघकर्म है ॥
जीवन पर्यन्त अरण्य वसना, मोहिं सुखद जनात है ।
कन्द मूल अहार करना, धर्म्म मोक्षद ख्यात है ॥१९०॥
क्षणिक तनु सुख है समक्ष, अनित्य सबको ज्ञात है ।
सब छूटहीं तनु त्यागते, नहिं अन्त कछु सँग जात है ॥
है धर्म्म लोक प्रलोक में, इस जीव का संगी सदा ।
ताते स्व धर्म्महिं पालना, मनुजत्व केवल मर्यदा ॥१९१॥
या ते करूं मैं युद्ध नहिं, मानव धर्म से भिन्न है ।
शान्ति दान्ति विमोक्ष नाशक, पतित कर्मवच्छिन्न है ॥
निज विचार सुनायऊँ, अब आप कहिये धर्म्म जो ।
सुखद-लोक प्रलोक में, होवै न निन्दित कर्म्म जो ॥१९२॥
बोले स्वधर्म्म दृढ़ावते, श्री कृष्ण-कला निधान ने ।
कैसी तुमारी अज्ञता ?, कश्मल प्रदायक मानने ॥
पण्डित सरिस बातें करत, पर हृदय शून्य विचार से ।
ममिता-विषमता-कल्पना, सम्मिलित् मोह विकार से ॥१९३॥
क्या पूर्व सब महिं [२]पाल नहिं ?, वा तुम नहीं या मैं नहीं ।

---

१ श्लोक—यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रारणेहन्युरतन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ २ ॥
(गी० १।३५।४६)

टीका—यदि मुझ शस्त्ररहित-न सामना करनेवाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें तो वह मारना भी मेरे लिये अति कल्याणकारक होगा ॥

२ श्लोक—नत्वे वाहं जातुनासं न त्वं नेमेजनाधिपाः ।
न चैवन भविष्यामः सर्वेवयमतः परम् ॥ १ ॥

टीका—श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं कि, हे अर्जुन ! वास्तव में न तो ऐसा ही है कि, मैं किसी काल में नहीं था, तूं नहीं था अथवा यह राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि, इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥१॥

अथवा भविष्य न रहें सब ?, अश्चर्य्य मय रचना नहीं ? ॥
सब क्षिति-पाल-मैं-तूं थे प्रथम, हैं व भविष्यत् रहेंगे ।
तुम मोह विवस न जानता, मैं ज्ञान-रवि-तम् दहेंगे ॥१९४॥
जन्म-मृत्यु विहीन स्वात्म[1], शान्त शुद्ध स्वरूप है ।
नित्य शाश्वत है पुराणे, ज्ञान गम्य अनूप है ॥
वपु नाश से नहिं नाश हो, "चैतन्य" अविनाशी सदा ।
फिर कौन मारे ? मरत को ?, समझो तजो मिथ्या मदा ॥१९५॥
मैं और मेरा-मोह तज, शुचि स्वात्मा पहिचान लो ।
माया-मयी रचना सकल, कल्पित-विषय-विष जान लो ॥
सत्य का न अभाव होता, भाव हो न असत्य को ।
यह जानते हैं सहज सज्जन, ध्यावते हैं सत्य को ॥१९६॥
धर्म्म-क्षत्रिय युद्ध है, ऊठो करो संग्राम को ।
स्व-धर्म ही कल्याण प्रद[2], पर धर्म-दे अघ धाम को ॥

---

१ श्लोक—न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१॥
(गी० २।१२।२०)

टीका—यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मा है और न मरता है अथवा न यह आत्मा होकर के फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुराण है, शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नहीं होता है ॥ २ ॥

२ श्लोक—श्रेयन्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ १ ॥
(गी० ३।६५)

टीः—भगवान कहते हैं कि, हे अर्जुन ! इसलिये राग-द्वेष दोनों को जीतकर सावधान हुआ स्वधर्म का आचरण करे, क्योंकि अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है,

स्व-धर्म तजि के जीवना, मिथ्या दुःखद संसार है।
अपयश-से कछु दुःखदा नहीं, मृत्यु-से सहस गुण पार है ॥१९७॥
दुहुँ भाँति मुद मोदक तुम्हारे, शुद्धि-बुद्धि विचार लो।
जीतो तो पावो राज्य यश. हारो तो स्वर्गागार लो ॥
मोह जन्य विषाद तजि, सानन्द मन संग्राम लो।
कादरपना मुख-मोड़ कर, वर शूरता से काम लो ॥१९८॥
मानो न जो मम वचन तव, प्रकृति युद्ध करावहीं।
काल कला विचित्र-चित्रित, समझ में नहिं आवहीं ॥
यदि तत्त्व ज्ञान विचार कर, समत्त्व उर धारण करो।
तो सहज ही भव-भ्रान्ति गत, नहिं बहुरि दुःख सागर परो ॥१९९॥
निष्काम कर्म प्रयोग्य शीघ्रहिं, भुक्ति मुक्तिहुँ देत है।
आधि-व्याधि विषाद दारुण, विषमता-हरि लेत है ॥
इस भाँति बहु उपदेश दे, हरि युद्ध पाठ-पढ़ायेऊ।
"धर्म्मदास" करहु विचार, शुचि-श्री कृष्ण पार्थ लड़ायेऊ ॥२००॥
विकट वेष-विराट [1]धरि, हरि पार्थ को दिखलायऊ।
ज्ञान ध्यान विचार बुधि बल, सकल मूल नशायऊ ॥

अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है ॥ २ ॥

(सूचनाः—यहां निषेध्र-धर्मों का भी विधीय हो गया" यदि स्वधर्म से स्वात्मधर्म माना जाय तो "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं" से सर्वधर्म हो पर धर्म सिद्ध होते हैं ॥ इसलिये यह रहस्य अवश्य विचारने योग्य है ॥

१ श्लोक—अनेक वक्त्रनयन मनेकाद्भुत दर्शनम् ।
अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १ ॥ (गी० ११।१०)

टीका—अर्जुन ने देखा की, विराटरूप में, अनेक मुख और नेत्रों से युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनों वाले एवं बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को हाथ में उठाये हुए देखा ॥ १ ॥

निज-आस्य में युग कटक योधन, मृतक भाव दिखायऊ।
भय-भीत से स्वाधीन कर, अर्जुन से युद्ध करायऊ ॥२०१॥
परित्याग के सब[१] धर्म को, मम शरण के आश्रित रहा।
सब पाप-ताप नशाय मैं, दूं परम-पद जेहि तूं चहो ॥
इस रीति से विश्वास दे, अर्जुन को अभय वनायऊ।
श्री कृष्ण कांल अधीश ने, घन-घोर युद्ध करायऊ ॥१९२॥

दिगपाल छन्द

निष्काम कर्म योग-युद्ध, कृष्ण जी वताये।
पाण्डो स्वजन संहार के, यम लोक में पठाये ॥
बन्धु बधन दोष ते, अश्व-मेध को रचाये।
नहिं पाप की निवृत्ति से, हिमाल में गलाये ॥ १ ॥
निज शर्ण आश राखि, नहिं पाप से बचाये।
कैसा सचित्र तत्त्व वोध, वचन से वताये ?
"मुक्तात्मा[२]" कर दूं तुझे, कहाँ वाक्य स्वपुराये।
युद्ध का है गीत-गोता, कल्पना दर्शाये ॥ २ ॥

---

१ श्लोक—सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणव्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमाशूचः ॥ १ ॥
(गी० १८।६६)

टीका—हे अर्जुन! सर्वधर्मों को त्याग मेरे आश्रित होजा, मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से मुक्तकर दूंगा, तूं शोक मत कर ॥ १ ॥

२ श्लोक—बहूनिमेव्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेदसर्वाणि नत्वं वेत्थ परतप ॥ १ ॥ (गी० ४।५)

टीका—भगवान् के वहुत उपदेश करने पर भी अर्जुन युद्ध करना अंगीकार न किया, तव फिर भगवान वोले, कि, हे अर्जुन! मेरे और तेरे वहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप! (अर्जुन) उन सब को तूं नहीं जानता है और मैं जानता हूँ ॥ १ ॥

आप कहते कृष्णजी, बहु बार "मैं" "तूं" आये।
दुर्योधन[1] सह पक्षियों को, काल पुर पठाये॥
या ते यह सिद्ध हो, नहिं मोक्ष पार्थ पाये।
गीता प्रमाण या में, नहिं कल्पना कछु गाये॥ ३॥

ह० छं०—करहु विमल-विवेक सज्जन, मुक्ति इमि हरि देत हैं।
गमनाऽगमन जा में लगे, फिर बन्ध क्या हरि लेत हैं?॥
सकल दुःख का मूल गमना, ऽगमन ही सब जानहीं।
या को मेटना ही मोक्ष है, बुध विज्ञ वर सब मानहीं॥२०३॥
जन्म-मृत्यु के मध्य में, अगणित क्लेश अवाच्य हैं।
दारुण अविद्या अगम धारा, विश्व सागर साँच हैं॥
जल चर प्रचण्ड अनन्त या में, जीव घातक ख्यात हैं।
काम क्रोध प्रलोभ-क्षोभ, विमोह आदिक ज्ञात हैं॥२०४॥
हो मनुज तनु की सफलता, गमनाऽगमन निर्मूल हो।
सत्य पद प्राप्त होवै भव, शमन सकलो शूल हो॥
किन्तु हरि नहिं दे सकैं, शुचि स्वात्म का परिचय कभी।
भ्रान्ति ममता विवस हो, जिव मानते स्वामी तभी॥२०५॥

(सूचना—इससे तथा अ० ३।१२ से यह निश्चय होता है कि, अर्जुन मोक्ष नहीं हुए। क्योंकि अपने तथा अर्जुन को बार बार जन्म-मृत्यु होने को स्वयं श्रीमुख-से भगवान कहते हैं। जब गीता के प्रमुख श्रोता को मोक्ष नहीं मिला, तो अन्य गीता के प्रेमियों की तो कहना ही क्या है?॥

१ श्लोक—अमीचत्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः। सर्वेसहैवावनिपाल संघैः। भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौसहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ १॥

टीका—अर्जुन कहते हैं कि, मैं देखता हूँ कि, वे सब ही धृतराष्ट्र के पुत्र, राजाओं के समुदाय सहित आप में प्रवेश करते हैं, और भीष्मपितामह द्रोणाचार्य, कर्ण और हमारे पक्ष के भी प्रधान योधाओं के सहित सब के सब॥ २॥

यदि मोक्ष हरि जीवन करैं ?, फिर रहै को संसार में ? ।
उत्पति प्रलय पालन क्रिया, कैसे चलै व्यवहार में ? ॥
इस हेतु हरि संसार का, साधक सदा सब काल में ।
बाधक कबी नहिं हो सकैं, भ्रमावहां भ्रम जाल में ॥२०६॥

बिम्ब की ऐसी दशा, प्रति-बिम्ब की क्या बाति है ? ।
धर्म्मदास ! जीवन-दीन की, विभ्रान्ति नहिं कहि जाति है ॥
शब्दामृत श्रवण पुट् पान से, धर्मदास के उर दृग खुले ।
पावक प्रचण्ड प्रताप के, संसर्ग से जिमि घृत घुले ॥२०७॥

जिन्द-चरण-सरोज पर, दण्डवत् धर्म स्व शिर धरे ।
त्राहि-त्राहि कृपा निधे !, मम आप दारुण दुख हरे ॥
हे नाथ ! आरति हरण !, शरण विहाल जन विपदा दले ।
मोहिं जानि अति अज्ञान वस, अपनाय लिय किय अति भले ॥२०८॥

हे शान्त ! दान्त ! जगदेक बन्धौ !, कृपा-दृग अवलोकिये ।
आए हुए निज शरण में मोहि, काल हमला रोकिये ॥
त्रिविध-ताप अशान्ति ममिता, अहंकार जलावहीं ।
त्व सुधा सिन्धु अगाधि-करुणा, दृष्टि-वृष्टि बुझावहीं ॥२०९॥

हे प्रणत-पाल-प्रशान्ति मूरति !, शरण में मोहिं राखिये ।
विषय-विषम विशाल-काल, कराल त्राशहिं नाखिये ॥
हे मुकुन्द ! प्रमोद-दधि तव, पतित-पावन नाम है ।
पावन करिय मोहिं पतित को, दे ज्ञान जो निष्काम है ॥२१०॥

मम हृदय अविचल बोध यह प्रभु !, आप अचल अखण्ड हैं ।
जिन्द वेष बनाय कल्पित्, शमन करत पखण्ड हैं ॥
संशय नहीं लवलेश या में, आप पुरुष अनन्त हैं ।
तीन काल त्रिलोक में, सब जीवनों के कन्त हैं ॥२११॥
हे नाथ ! करिय सनाथ मोहिं, तव पद्म-पद मम माथ है ।
जाके न दृढ़ विश्वास शुचि, ते मनुज सतत् अनाथ है ॥

निश्चय स्व दास बनायिये मोहिं, नमो पुनि-पुनि चरण को।
नित्य अगम अखण्ड अद्भुत, वचन तव भव-हरण को ॥२१२॥
स्व गिरा सुधा सुवृष्टि द्वारा, सींचि देते दान्त हैं।
विश्व-दव ते जलत जीवन, आप करत प्रशान्त हैं ॥
करुणा-कटाक्ष को पात्र मैं, निज नाथ ! परिचय दीजिये।
अब विलम करने योग नहिं, मम कर ग्रहण कर लीजिये ॥२१३॥
जिन्द बाबा तव कहे, धर्मदास ! सहज सुजान हौ।
जिज्ञासता तुम में भली, नहिं राखते अभिमान हौ ॥
सुनु साधु मेरा [१]नाम है, मैं रहत साधुन संग में।
सत् संग परमानन्द प्रद, नहिं रहत विषय प्रसंग में ॥२१४॥
"सद्गुरु कबीर" कृपानिधे, जो रमत् त्रिजग त्रिकाल में।
रक्षक सदा सब जीव को, नहिं रहन दें यम-जाल में ॥
वर्तमान् काशी नगर में, संतत् रमत् संसार में।
मैं हूं उन्हा के शिष्य संतत्, जो सदय उपकार में ॥२१५॥
सत्पुरुष सा सत् लोक तजि, आये जिवन हित-हेतु हैं।
तेहुकाल में तिहुँलोक में, जिनकी कृपा भव-सेतु हैं ॥
किंकर उन्हा का मैं सदा, मन् कर्म्म वाणी ध्यावहूं।
सेवों सदा पद-पद्म उनके, सुयश नित नव गावहूं ॥२१६॥
कांम्पत् कराल विहाल काल, कृपालु के पद ध्यावते।
फिर काल जन की गति कहाँ ? कोउ भक्त निकट न आवते ॥
वे काल-फन्द निकन्द सर्वो, हंसनों मुक्तावहीं।
स्वयं सिद्ध अखण्ड स्वात्म्, शुद्ध पद दरशावहीं ॥२१७॥
विश्वास युत् जो दास, "सद्गुरु" पाद-पंकज ध्यायिहैं।
अरु ज्ञान ध्यान विराग शील, विवेक युत् लय लायिहैं ॥

---

१ चौः—धर्मदास साधू मम नामा। साधुन में निशि-दिन विसरामा ॥१॥
(ज्ञान प्रकाश)

ते काल शिर-निज पांव धरि,[१] सत् लोक निश्चय जायिहैं।
गमनाऽगमन भय-विगत हो, स्वानन्द अविचल पायिहैं ॥२१८॥
चतुर दश-दश अष्ट श्रुति-रस, अधित् स्वाम न प्राप्त हो।
अज शिव रमेश गणेश शारद, शेष आदिक आप्त हो ॥
सद्गुरु सुकृपा कटाक्ष बिनु, को [२]परख पद परखायिहैं ?।
विषय-विषम विकार गत् करि, तत्त्व को दर्शायिहैं ? ॥२१९॥
उदय अमित-तमारि शशि, अरु-नखत अग्नि विकाश हो।
सद्गुरु सरोरुह पाद-नख बिनु, तमा-तम् न विनाश हो ॥
यह जानहीं सज्जन सकल, धी-वर सदय बुध मान है।
भ्रान्त-भेद-प्रच्छेद द्वन्द्व-निकन्द, "सद्गुरु" ध्यान है ॥२२०॥

---

१ सा०—काल के माथे पाँव धरि, हँस जाय सत्लोक। (सा० ग्र०)
२ दो०—चौंदह चारो अष्टदश, रस समझव भरपूर।
नाम भेद जाने विना, सकल समझ में धूर ॥ १ ॥
भेद जाहि विधि नाम महँ, विनु गुरु जान न कोय।
तुलसी कहहिं विनीत वर, जो विरंचि शीव होय ॥ २ ॥
श्रवणात्मक-ध्वन्यात्मक, वर्णात्मक-विधि तीन।
त्रिविध शब्द अनुभव अगम, तुलसी कहहिं प्रवीन ॥ ३ ॥
रसना-सुत पहिचान विनु, कहहु न कौन भुलान ?।
जानै कोउ हरि गुरु कृपा, उदय भये-रवि ज्ञान ॥ ४ ॥
(तुलसी सतसई)

श्लोक—अद्वैतंहि शिवं प्रोक्तं क्रियायास विवर्जितम्।
गुरुवक्त्रेण लभ्येत नाधीतागम कोटिभिः ॥ १ ॥

टीका—क्रिया में जो आयास (परिश्रम) तिसे रहित (क्रिया) से न प्राप्त होने योग्य अद्वैत (एक) शिव (कल्याण) स्वरूप ब्रह्म कहे हैं वह गुरु के मुख से मिलते हैं, पढ़ते करोड़ों आगम-शास्त्रों से नहीं मिलते हैं ॥ १ ॥

शमन सब संताप दारुण, दमन-भव-रुज को करै।
सद्गुरु बिना संसार में, अघ घोर संशय को हरै ? ॥
ज्ञान ध्यान समद्ध बोध, विमोक्ष प्रद इक आप हैं।
तान काल त्रिलोक के, "सद्गुरु" हरत त्रय ताप हैं ॥२२१॥

पावक द्रवहिं वरु चन्द्र ते, रवि-रश्मि हिम वर्षावहीं।
शुक्रहिं जलावै-नीर वरु, जल मध्य अग्नि नहावहीं ॥
नौका चलें गिरि शिखर पर, नग जलधि पर उतरावहीं।
पर मुक्ति नहिं "सद्गुरु" बिना, श्रुति शास्त्र सज्जन गावहीं ॥२२२॥

गगन मण्डल में प्रफुल्लित, कंज हो शायद कहीं।
व्योम प्रमुदित करै मज्जन, अमल जल वर्षे महीं ॥
कमठ पीठ कठोर पर वरु, लाम हो ताजुब नहीं।
करुणा रणव "सद्गुरु" बिना, परमोक्ष नहिं प्रापत कहीं ॥२२३॥

गगन-मग नहिं मेघ मालहिं, मिलहिं हो अद्भुत कहीं।
तमी-तरुण-तमारि-निगलहिं, हो विपर्य्य भी कहीं ॥
विकशे सरोज निशा भले, कैरव दिवस खोलें दुनी।
विपरीति गति होवे भले, न विमुक्त बिनु "सद्गुरु" सुनी ॥२२४॥

इस हेतु सद्गुरु के शरण, मूमुक्षु को जाना[1] चही।
वेद शास्त्र पुराण सज्जन, विबुध सब का मत यही ॥
लक्षण-धरम पहिचानि, "सद्गुरु" पद्म-पद सेवन करै।
श्रम हीन हंस विमोक्ष हो, नहिं भ्रान्ति-भव-दधि में परै ॥२२५॥

---

१ श्लोक—तद्विज्ञाना॑ स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १ ॥
(मुण्डकोप निषद खं. २ मं. २१)

अर्थ—जिस परमात्मा के विशेष ज्ञान के अर्थ पूजन की सामग्री हाथ में लेकर ज्ञानी और चिन्निष्ठ गुरु की शरण में जावे ॥ १ ॥

सद्गुरु को लक्षण

ह० छं०—शुद्ध सत्य अनूप अविचल, असिम् स्वतः प्रकाश हैं।
अविगति अखंड, अनन्त-पावन सहज मोद विकाश हैं॥
शान्त संतत् वदन विकशित, मृदुल वचनामृत कहैं।
जेहि श्रवण मात्र मदादि दोष, विमोह दारुण दुख दहैं॥२२६॥
ज्ञान गम्य स्वरूप प्रद, विज्ञान पद परखावहीं।
विमल बोध अलक्ष्य अद्भुत, लक्ष्य करि दर्शावहीं॥
जेहि हेतु सुर मुनि दनुज नर, नागादि श्रम करि पचि मरैं।
पावहिं विवेक-विराग युत् अरु अपर भव-दधि में परैं॥२२७॥
स्व स्मृति विकाशि निज, सम शील निज-जन को करैं।
दारुण अविद्या विषमता, विकराल दुर्मति को हरैं॥
विद्या प्रमाद तपादि को, अहंकार निर्मूलन करैं।
स्वाधीन लीन स्वरूप में, स्वानन्द-जन भयगत चरैं॥२२८॥
संशय विपर्य्य भ्रान्ति भव, अज्ञान जनित विकार को।
सह मूल छेदि विभञ्जि भव, आलोक दें अविकार को॥
जन मुदित मन कंटक विगत, भय गत निमग्न स्वच्छन्द में।
कल्पित् कला सब काल की, हो शमन जन निर्द्वन्द्व में॥२२९॥
करुणा सुखड्ग प्रहारते, शिष को हरैं वसु[1] पाश को।

---

[1] श्लोक—करुणाखड्गपातेनच्छित्त्वा पाशाष्टकंशिशोः।
सम्यगानन्द जनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते॥ १॥
(गु० गी० ११५)

टीका—जा दयारूप खंग (तलवार) के पात (झटके) से शिशु शिष्य के (वसु) ८ फांसी अर्थात् पांच ज्ञान इन्द्रिय १ पांच कर्म इन्द्रिय २ मन आदि चतुष्ट ३ (मन, बुद्धि, चित, अहंकार) पांचप्राण ४ आकाश आदि पांच तत्व ५ काम अर्थात् इच्छा ६ कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म ७ तम अर्थात् मूल अज्ञान ये आठ पुरी जो पाशी (फाँसी) हैं।

स्व स्वरूप प्रबोध द्वारा, हरहिं भासऽध्यास को ॥
स्वयं सच्चिदानन्द कन्द, निकन्द काल विदण्डनम् ।
संसार प्रीति विभङ्ग कारक[१], विश्व-बन्धु प्रचण्डनम् ॥२३०॥
ऐसे समुज्ज्वल विपुल लक्षण, को कहे ? लहे पार को ? ।
शेष इला अनन्त कल्पन, सकहिं बरणि न पार को ॥

अथवा भूमि १ जल २ अग्नि, ३ वायु ४ आकाश ५ अर्थात् गंध आदिक इनकी तन्मात्रा मन अर्थात् मन का कारण ६ बुद्धि अर्थात् अहंकार का कारण ७ अहंकार कहिये महत्त्व, अव्यक्त माया ८ ऐसे आठ अनात्म पदार्थों में आत्म बुद्धिरूप जो आठ बन्धन हैं ॥ अथवा—

श्लोक—घृणा, शंका, भयं, लज्जा, जुगुप्सा चेति पंचकम् ।
कुलं. शीलं च वित्तं च ह्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥
(वेदान्त संज्ञा पृ० ६५)

टीका—घृणा (दया) १ शंका २ भय ३ लज्जा ४ जुगुप्सा (निन्दा) ५ ये पांच और कुल १ शील (स्वभाव) २ धन ऐसे ये आठ पाश अर्थात् फांसी कही गयी हैं, इनका प्रछेदन कर, जो सम्यक् आनन्द (निजानन्द) के उत्पन्न करनेवाले हैं वे गुरु "सद्गुरु" कहलाते हैं ॥ १ ॥

सा०—सतगुरु मारा तान करि, सबद सुरंगी बान ।
मेरा मारा फिर जीये, हाथ न गहों कमान ॥ २ ॥ (सा० ग्रं०)

१ श्लोक—त्वं पिता त्वञ्च मे माता त्वं बन्धुस्त्वञ्च देवता ।
संसार प्रीति भङ्गाय, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ १ ॥

टीका—हे गुरुदेव ! आप ही मेरे पिता हो, आप ही मेरी माता हो, बन्धु और मेरे देव भी आप ही हो, संसार से प्रीति (आशक्ति) छोड़ाने वाले हे गुरुदेव ! आपको मेरा नमस्कार है ॥ १ ॥

दो०—तात मात भ्राता सुहृद्, इष्टदेव नृप प्रान ।
अनाथ सुगुरु सब से अधिक, दान ज्ञान विज्ञान ॥ १ ॥
(विचारमाला वि० १।५)

तब अपर की क्या वार्ता ?, कहि सकै लक्षण न्यार को ? ।
परम मोक्ष समस्त दाता, त्रिजग बन्ध प्रहार को ॥२३१॥

"सद्‌गुरु" तथा परमेश में, मतभेद चलता है सदा ।
परमेश सृष्टि-विचित्र-रचि, देते सदा[1] भव-आपदा ॥
सद्‌गुरु स्वतः प्रकाश करते, हरि सकल भ्रम-तापदा ।
करुणा रणव करि के कृपा, सह मूल नाशहिं पापदा ॥२३२॥

हरि विरचि "माया" फन्द द्वन्द्व, प्रचण्ड सब जीवन हने ।
पञ्च जनित विकार त्रिय गुण, अमित अवगुण को गने ? ॥
पञ्च विषय कुपाश में सुर, असुर ऋषि मुनिवर फँसे ।
मन बुद्धि चित् अहंकार से, परमेश सब जीवन ग्रसे ॥२३३॥

मल विक्षेप आवर्ण द्वारे, हनि समत्व स्व बोध को ।
वासना आसा विषमता, से हरत सब शोध को ॥
इक जीव फन्द अनन्त फाँसे, शीव-कल्पि स्वकल्पना ।
इस हेतु हंस अशक्त हो, गावहिं सभय हरि गुण गना ॥॥२३४॥

"सद्‌गुरु" सदय करुणा रणव, माया कुफन्द नशावहीं ।
पञ्च जनित विकार त्रय गुण, विपल मध्य मिटावहीं ॥
विषय वाण अमूल करि, सानन्द सद्य मिलावहीं ।
अन्तःकरणहिं निकन्द शीघ्रहिं, स्वात्म शुद्ध भेटावहीं ॥२३५॥

मलादि दोष निमेष में हरि, शीघ्र सब स्वात्म करें ।
वासनादिक पाशनों को, सहज करुणा करि हरें ॥
अमित कला कराल शिव की, नष्ट कर तत्काल ही ।
इस हेतु "सद्‌गुरु" एक रक्षक, त्रिजग तीनों काल ही ॥२३६॥

सद्‌गुरु सरिस त्रय लोक पावन, को करे तिहुँ काल में ? ।

---

१ भजन—हरिमाया वस जीव भ्रमत है, मोह पास अरुझाने । गुरु की कृपा छुट बन्धन से, पहुँचे मुक्ति ठिकाने ॥ १ ॥

त्रियदेव सुर सनकादि आदिक, विकल काल के [१]जालमें ॥
शुद्ध ज्ञान स्त्र ध्यान मोक्षद, त्रिजग सद्गुरु देव हैं।
इस हेतु सादर सब सुरासुर, करत संतत् सेव हैं ॥२३७॥
तम्-त्रिताप विनष्ट-हित, आलोक प्रद-पद रेणु है।
शुभ कामना की पूर्ति-हित, रज कल्प-तरु सुर धेनु है ॥
[२]अंजन किये विवेक दृग, घट के खुले सब जानहीं।
दिव्य-दृष्टि अपार अद्भुत, होति सज्जन मानहीं ॥२३८॥
धर्म्मदास ! सहज स्नेह सद्गुरु, पद्म-पद जो ध्यावहू।
भ्रम हीन सकल विकार गत, स्वानन्द अविचल पावहू ॥
स्वेच्छा सरिस तुम करहु, अब मैं जाऊँ सद्गुरु पास में।
वीलम्ब अति मुझको हुई, सत्संग बाग विलास में ॥२३९॥

धर्म्मदास सुनि विह्वल वदन्, सष्टांग पद-पंकज परे।
पुलकित-तनोरुह कण्ठ गद् गद्, अम्बु युग लोचन झरे ॥
करजोरि कहत निहोरि प्रभु !, भव-भीति भंजन हार हो।
परम पूज्य कृपायतन !, भ्रम-भेद-छेदन हार हो ॥२४०॥

---

१ ह० छं०—गुरु ज्ञानहीन मलीन गुन, जनवेद शास्त्र पढ़े घनो।
अगुआ पुराण विरञ्चि वोधहिं, सकल जग ये सिखावनो ॥
जो काल जीवन को सँतावै, तासु भक्ति दृढ़ावहीं।
विष्णादि सुर सनकादि, अज, शिव काल के गुण गावहीं ॥ १ ॥
सो०—विन समझे जस नीम, लागे वचन हमार तस।
समझे अमी समीष्ठ, कहहिं कवीर पुकारि कै ॥ १ ॥
जैसे नीम सुभाव, प्रथम तीत अन्तर सुखी।
ताका होय वनाव, जो तेहि हृदय समावहीं ॥ २ ॥

(ज्ञानप्रकाश)

२ चौ०—गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष विभंजन ॥ १ ॥ (रा० वा०)

निज शरण में मोहिं राखिये, सद्गुरु कबीरहिं आप हैं।
निश्चय यही मम हृदय में, आपहिं हरत त्रय ताप हैं॥
जिन्द कहें धर्म्मदास जी !, तुम जाहु निज गुरु पास में।
सत्संग करि अज्ञा ले आवा, हास होय न दास में॥२४१॥
मैं जाउँ सद्गुरु के निकट, तव प्रीति-रीति सुनायिहौं।
करि के विनय तत्काल में, तब सदन में लै आयिहौं॥
इमि कहत जिन्द अदृश्य भय, धर्म्मदास दृग-पट नायऊ[१]।
दृग खोलि जब अवलोकेऊ, तब जिन्द दर्श-न पायऊ॥२४२॥
विस्मृतिता तनु की दशा, भूतल परे सम दण्ड के।
श्वास की गति रुक गई, गय प्राण चढ़ि ब्रह्मण्ड के॥
शव इव दशा को कहि सके !, लगे विरह शुक्र प्रचण्ड के।
मुर्छा विगत चर्चन लगे, उर ज्ञान ध्यान अखण्ड के॥२४३॥
विविध तर्क-वितर्क से, कछु धैर्य्यता आई हिये।
खेद-खिन्न प्रछिन्न संज्ञा, भवन को मारग लिये॥

दो०—हृदय-दृष्टि निर्वाण जब, गुरु-सरोज-पद लीन।
द्रवै सकल कामादि तब, जय गुरुदाया कीन॥ १ ॥

(ज्ञान सम्बोध)

१ ह० छं०—क्षिण लवण अन्तर जब भये, प्रभु तबहिं चित अति खर भरे।
चक्षु वारि प्रवाह भय अति, विरह ज्वाला पर जरे॥
धरि संशे आशा मिलन की, तब भवन बहुरि सिधारेऊ।
गृहसेज विछुरे विकलता से, उर विरह अति छायऊ॥ १ ॥

सो०—वसन विभेष वनाय, भोजन-विगत मलीन तन।
वैठेहिं जहँ-तहँ जाय, रैन-दिवस क्षण कलनहीं॥ १ ॥
मिलहिं जो भेष अनेक, पूछहिं ताहि सँदेस पुनि।
देहि न चित महँ टेक, वाणी सवद न पावहीं॥ २ ॥

(ज्ञान प्रकाश)

गृह जाय के शय्या पड़े, संदिग्ध-वसु दाहे हिये।
असन-वसन विभूषणादिक, की नहीं चेष्टा जिये ॥२४४॥
रस-दिवस तक ऐसे रहे, तड-पे-क-के विनु मीन ज्यों।
लोभी स्व कर ते लाल खोवे, विकलताई-दीन त्यों॥
कन्त-विनु-कान्ता यथा ही, तथा मणि-विनु व्याल की।
सद् गुरु बिना धर्म्मदास की, वैसी दशा उर शाल की ॥२४५॥
जब लोक बहु समझायऊ, ऋषि वार उठि भज्जन किये।
लोक संग्रह के लिये, हरि सेव में कछु चित् दिये॥
अतिशय उदासी हृदय में, मन में स्थिरता हो नहीं।
सौदामिनी-सी चपलता, मन शान्ति नहिं पावे कहीं ॥२४६॥
करि के विवेक-विचार फिर, दृढ़ता हृदय महँ लायऊ।
रूप दास विठलेश गुरु के, पास जा शिर नायऊ॥
बीनम्र कला विहीन, सहज स्वभाव विनय सुनायऊ।
जड़ता विवस अनुचित कहों, परि पाँव क्षमा करायऊ ॥२४७॥
हे नाथ ! प्रतिमा देव तो, "चैतन्य" रहित समक्षहीं।
किमि ज्ञान ध्यान विवेक आदि, प्रदान करि मोहिं रक्षहीं॥
शुचि [1]ज्ञान ध्यान विहीन जीवन, काल सब को भक्षहीं।
श्रुति सन्त कवि कोविद कहैं, तिहुँ लोक कोउ नहिं रक्षहीं ॥२४८॥
चैतन्य सच्चिदानन्द घन, परमेश जग करतार जो।
सृजत पालत हरत सब को, धरत विविधा कार जो॥
सो-तो विकट जग जाल रचि, सब जीव को बन्धन दिये।
अव्यक्त व्यापक-विश्व मय, हैं आप सब प्रेरक हिये ॥२४९॥
सो-तो विशुद्ध न मोक्ष प्रद, क्योंकि ? रचयिता आप हैं।
कला कौशलता विवस करि, आप-देत-त्रिताप हैं॥

१—"ऋते ज्ञानान्ने मुक्तिः" अर्थ—ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होती। "ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखांना" (रामायण)

राजा स्वयं निज प्रजा को, स्वाधीनता नहिं दें कभी।
राखैं सदा स्वाधीन करि, इस बात को जानैं सभी ॥२५०॥
स्वतंत्रता प्रजहिं देवैं ?, फिर आप स्वामी कौन को ? ।
परमेश देवैं मोक्ष तो ?, का जाय काल के भवन को ? ॥
मति हीन परम विमूढ़ भी, निज कृति की रक्षा करें।
सर्वत्र ज्ञान विकाश प्रद, परमेश किमि शिशुता धरैं ॥२५१॥
इस हेतु प्रभु ! समझायिये, को करत मोक्ष प्रदान हैं ? ।
स्वयं बोध-विमोक्ष प्रद, को हरत अघ अज्ञान हैं ? ॥
ग्राह्य त्याज विवेक द्वारा, बोध ज्ञान दृढ़ाइये ? ।
विस्मृतिता, विभ्रान्ति ममता, विषमता विनशाइये ॥२५२॥
प्रश्न विषम रहस्य मय सुनि, चकित गुरु बोलत भयो ।
धम्मदास तव मति भ्रष्ट भयि, वर बोध सह मूलहिं गयो ॥
आई कहाँ से विषमता ?, किसने तुझे परिचय दियो ? ।
बतलायिहैं रक्षक साईं, जिसने तुझे उन्मत्त कियो ॥२५३॥
कैसी भला विपरीतता ?, जगदात्मा जगदीश को।
बन्धन प्रदायक वर्णता ?, दोषी बताना ईश को ? ॥
सर्व शक्ति प्रयुक्त प्रभु, सर्वज्ञ सब कछु करत हैं।
सृजत, पालत, त्रिजग को, मह काल बन कर हरत हैं ॥२५४॥
तद्यपि सदैव विशुद्ध हैं, निष्काम अगम अपार हैं।
परम-पावन करन हेतु, त्रिकाल जगदाधार हैं॥
सम्भव न-तिमिर-तमारि में, तिमि दोष समर्थ में कहाँ ? ।
सर्व व्यापक आप हैं, फिर आप बिनु खाली [१]कहाँ ? ॥२५५॥
इस हेतु अमल विशुद्ध ध्येय, त्रिलोक मध्ये आप हैं।
जो कछु करैं सो-मोक्ष प्रद, लीला अगम्य अमाप हैं॥

१—"सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्" (महाभारत-शां०)
"हरि व्यापक सर्वत्र समाना" (रा० बा०)

भावे तुझे सेवन करो, स्वात्म समर्पण प्राण सों।
या कल्पना के विवश हो, कलुषित् कहो अभिमान सों ॥२५६॥
इच्छा तुम्हारी सो करो, मुझको न हर्ष-विषाद है।
मेरी समझ से व्यर्थ ही, तव-भ्रष्ट ज्ञान प्रमाद है॥
जगदीश पूर्ण त्रिलोक में, पावन अनन्त अखण्ड हैं।
पाप-पुण्य अलेप संतत्, देत नैतिक दण्ड हैं ॥२५७॥
तुमको नहीं विश्वास तो, जिस पर तुझे विश्वास हो।
सेवन करो तुम जाय के, सह प्रेम कर शुचि दास हो॥
अज्ञा हमारी है यही, विश्वास बिनु नहिं [1]कार्य हो।
यह लोक या परलोक के, दुःख द्वन्द्व का ऽनिवार्य हो ॥२५८॥
साधन सकल निष्फल होवैं, भव-बन्ध जब छूटै नहीं।
इस हेतु नर तन की सफलता, चाहिये करनी कहीं॥
सानन्द मैं तुमसे कहूं, भलि भांति से समझाय के।
देव दुर्लभ तनु सफलता, करो श्रेयस् पाय के ॥२५९॥
धर्म्मदास गुरु-पद-कंज पर, शिर नाथ विनय सुनायऊ।
पुलकित वदन लोचन सजल, स्वेच्छित् सफलता पायऊ॥
मग्न मन मारग लिये, गुरु देव वचन विचारते।
आयो भवन आमोद युत्, कल्याण कार्य निहारते ॥२६०॥
एकाग्र-वृत्ति सद्गुरु कमल-पद, ध्यान उर धरने लगे।
"विश्वास ही फल दायकं", यह मनन मन करने लगे॥
सर्वत्र प्रभु की-ज्योति जग-मग, ज्ञान-रूप अखण्ड है।
ज्ञान हीन मलीन जड़, प्रकृति रचित पखण्ड है ॥२६१॥
निष्ठा हमारी अचल जो, तो क्यों न मम दुख दूर हो ?।
सत्य श्रद्धा युक्त कारण, सफल शीघ्र जरूर[2] हो॥

१—"कौनहुँ सिद्धि कि बिनु विश्वासा" (रा० उ०)

२ सा०—जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है संग।
कोटि काल झकझोरहीं, तऊ न हो मन भंग॥ १॥

छल हीन-दीन अधीन जन को, सहज ही प्रभु मिलत हैं।
निर्विघ्न कछु संशय नहीं, मन मुदित मुनि यह भनत् हैं ॥२६२॥
अविचल विशद विश्वास युत्, सद्गुरु चरण चित नायऊ।
धन धाम सुत बामादि की, सुधि-बुधि सकल विसरायऊ ॥
अबछिन्न धारा तैल वत्, स्मरण को तार लगायऊ।
प्रेम-स्वच्छ अनूप अद्भुत, दिवस-निशि न जनायऊ ॥२६३॥
कइ दिवस ऐसे व्यतित भय, प्रभु को न दर्शन पायऊ।
मानो हृदय वीदिर्ण भयो, अत्यन्त उर अकुलायऊ ॥
प्राण तनु त्यागन चह्यो, दृग खोलि तब अवलोकेऊ।
मूरति अपूर्व अनूप तव इक, शुभग सन्त विलोकेऊ ॥२६४॥
शुभ्र परम प्रकाश भय, श्वेताम्बरं छवि छायऊ।
ताज चक्रांकित मणी मय, शीश पर सुभ्राजेऊ ॥
शुभ्र तिलक सुभाल ऊपर, सो मदन मन-मोहहीं।
कर्ण कुण्डल जगमगाहट, सुठि मनोहर सोहहीं ॥२६५॥
चकित चित धर्म्मदास विह्वल, धाय-पद-पंकज परे।
दण्डवत् अति प्रेम-मय, पद-रेणु श्रुति-दृग उर धरे ॥
कर जोर आरतिवन्त अति, संकुचित चित विनती किये।
हे नाथ ! आरति-हरण ! मंगल करण ! सुखदायक जिये ॥२६६॥
इस दास की आरति यही, जाने चहै परिचय प्रभो ! ।
नाथ का क्या नाम है ?, कहँ से पधार्‌यो हे विभो ! ॥
त्रय लोक पावन कर नहीं, हित हेतु आप पधारेऊ।
विश्वेश करन निदेश, मोक्षद वेष आप ये धारेऊ ॥२६७॥

जो सांचा विश्वास है, तो दुख क्यों न जाय।
कहैं कबीर विचारिके, तन मन देहिं जराय ॥ २ ॥ (सां. प्र.)
"जापर जाकर सत्य सनेहू। तेहि तिन मिलै न कछु संदेहू ॥ १ ॥
(रा० बा०)

वोल्यो-कृपा-मय दीन वत्सल, नाम "सत्य कवीर" है।
सत्य लोक निवास संतत, जहँ न भ्रान्तिज पीर है॥
अवलोकते सब लोक को, इस लोक में चलि आयऊँ।
व्रत मान काशी नगर में, सानन्द वास वनायऊँ॥२६८॥
धर्म्मदास सुनि पुनि नाय शिर, रोमांच सजल विलोचनम्।
कण्ठ गद गद स्तुति करे, हे दीन-शोक [1]विमोचनम्॥

---

१ भजन प्रभाती—जयति जय कंज [1]पर्णज परीक्षक[2] प्रभो प्रौढ गूढार्थ[3] विदवेदसारम्[4]। भक्त वत्सल[5] दयासिन्धु[6] करुणायतन[7], राज-राजेन्द्र लीलाऽवतारम्॥ पतित तारण[8]-तरण दीन असरण[9] शरण, मोद[10] मंगलकरण[11] अति उदारम्[12]। क्षमा, वैराग्य सन्तोष समता दया, आदि युत शील धीरज विचारम्॥ परमकल्याण[13] मय ध्यान[14] निर्वाण प्रद[15] रहित अनुमान माया विकारम[16]। विगत अज्ञान[17] प्रज्ञान[18] विज्ञान घन, मोहमद मान [19]कानन कुठारम्[20]॥ लोभवन दहन अति प्रबल दावानलं[21] काम क्रोधादि [22]कैरवतुशारम्[23]। सर्वतोभद्र वर[24] प्रखर[25] दिनकर निकर उदय हरणाय[26] जगदन्धकारम्॥ यस्य[27] प्रत्यक्ष[28] हित योग जप [29]यजन मुनि, यत्न कुर्वन्ति[30] नाना प्रकारम्[31]। तस्य[32] विग्रह[33]

---

१ कमलपत्र से उत्पन्न, २ पारखी, ३ पूर्णरहस्य, ज्ञाता, ४ वेद तत्त्व ज्ञाता, ५ भक्तों की रक्षा करनेवाले, ६ दयासागर, ७ कृपास्वरूप, ८ पापियों को पार उतारने की नौका, ९ शरणरहित को शरणदाता, १० आनन्द, ११ कल्याण करनेवाला, १२ अत्यन्तदानी, १३ मंगलरूप, १४ आकार, १५ मोक्षदायक, १६ प्रपंच रहित, १७ अज्ञानरहित, १८ उत्कृष्ट बोधसहित विशेष ज्ञानस्वरूप, १९ वन, जंगल, २० कुल्हाड़ी, २१ दवाग्नि, २२ रात्रि, विकाशी कमल (कोईं), २३ हिम, २४ बड़ा, २५ तेज, २६ हरण करने के लिये, २७ जिसके, २८ दर्शन के लिये, २९ यज्ञ, ३० उपाय करते हैं, ३१ बहुत प्रकार से, ३२ उसकी, ३३ मूर्ति।

मुझ सरिस पतित न अपर कोउ, तेहि दर्श दिय भरि लोचनम् ।
धन्य ! धन्य ! कृपा निधे !, भव-भ्रांति-भीति निभंजनम् ।।२६९।।
ह० छं०—बूड़त विरह वारिधि विषे, प्रभु ! हस्त गहि अपनायऊ ।
त्राहि ! त्राहि ! पुकार सुनि, तत्काल आर्ति नशायऊ ।।
त्रिय लोक में को आप सम् ?, जन काल कष्ट निवारनम् ? ।
अघ ओघ शोक समग्र विषयन त्रिविध ताप प्रहारनम् ।।२७०।।
मुझ अधम पर ऐसी कृपा, किमि काल-कष्ट न नष्ट हो ? ।
अज्ञानता विस्मृतिता, विभ्रान्ति क्यों न विनष्ट हो ? ।।
दारुण अविद्या तिमिर तरुण, तमारि पहँ कैसे बसें ? ।
त्यों काल कल्पित् कल्पना, तव पाद-रज दर्शत् नसें ।।२७१।।
मंगल स्वरूप अनूप तव यश, सुनत कम्पित काल हो ।
परम विषयाशक्त भी, तव चरण दर्शि निहाल हो ।।
पाहि ! पाहि ! कृपा निधे, मोहिं पतित-पावन कीजिये ।
त्राहि ! त्राहि ! विमोक्ष प्रद, निज-विरद में चित दीजिये ।।२७२।।
भ्रमते हुए भव-चक्र में, बहु कल्प[1] गत मुझको भयो ।
अजहूं न उर सन्तुष्टता, नव नित्य दुख बढ़ते गयो ।।

विदित[1], साधु गुरुरूप धृत[2], अखिल अघ ओघ [3]हृत निर्विकारम् ।। विविध[4] गुण गणत[5] श्रुति[6] शारदा[7] शेष, निशि[8] दिवस यदि [9]तदपि नहिं लहत[10] पारम् । नौमि कव्वीर गुरु नौमि[11] कव्वीर गुरु वदति[12] धर्मदास इति बार बारम् ।। १ ।।

१ भजन—साहेब साहेबी तन हेरो ।। टेक ।। चंच पंख बिनु जथा पखेरू, मम गति समझ सवेरो । अब जनि तजो मोहिं यही खंडा, तुम सत

---

१ प्रसिद्ध २ धारण की हुई ३ पाप समूह के नाशक, ४ अनेक प्रकार के गुण, ५ गणना करते, ६ वेद, ७ सरस्वती, ८ रात्रि-दिन, ९ जो भी तो भी, १० पूरणता को प्राप्त होना । ११ नमस्कार करता हूँ । १२ कहता है ।

विष-विषम धार तुरावती में, असिम कष्ट कराल है।
निमिष एक न शान्त हो, त्रिय लोक सतत् विहाल है ॥२७३॥
तिहुँ लोक तीनों काल शुद्ध, प्रसान्ति प्रद इक आप हैं।
विकट-विषय कृतान्त कल्पित् , शमन करत त्रिताप हैं॥
आधि-व्याधि अशांति ममता, हनत अहंकु दाप हैं।
दीन-वत्सल-पतित-पावन, मोक्ष दानि अमाप हैं॥२७४॥
महिमा अखण्ड अगम्य अपरम, पार-पूत अवाच्य हैं।
वर्णन करै को शक्ति वर ?, श्रुति शेष आदि निर्वाच्य हैं॥
तहँ मूढ़ मेरी लेख क्या ?, मैं तव प्रसंशा किमि करूँ ?।
त्राहि ! त्राहि ! सरोज पद की, रेणु का-निज शिर धरूँ ॥२७५॥
प्रभु ! कंज-पद से भिन्न जब से, जन्म अगिणितु धारऊँ।
जरा-जन्म रु मृत्यु अगिणित, कष्ट भोगत हारयोऊँ॥
अब से शरण में लीजिये, अघ ओघ घोर विसारिये।
दीक्षा प्रदान उदार द्वारा, नाथ ! दीन उद्धारिये ॥२७६॥
सद्गुरु कबीर कृपा-निधे, धर्मदास-प्रेम विलोकेऊ।
मल विक्षेप आवर्ण गत, अधिकारि शुद्ध विलोकेऊ॥
विनय करि स्वीकार अज्ञा, दीन्ह आरति साजहू।
चौका चतुर अन्तः करण करि, शुद्ध निर्भय राजहू ॥२७७॥

लोक बसेरो ॥ १ ॥ निस-वासर मोहिं ससय व्यापै, काम, क्रोध मद घेरो। यासे नाम लेन नहिं पाऊं धृग जीवन जग मेरो ॥ २ ॥ प्रभु-पद भिन्न भयो मैं जब से, देह धरे वहुतेरो। त्रिविध ताप दुख सहे निरंतर, कवहूँ न भयो सुखेरो ॥ ३ ॥ मम गति जानि प्रानपति सतगुरु, जुगन-जुगन तुम टेरो। मैं अचेत प्रीति मोहवस, तुम तजि भयो अनेरो ॥ ४ ॥ मैं हौं जीव तुम्हार दया-निधि, आदि अन्त को चेरो। अब मोहिं लेहु छोड़ाय काल से, औगुन मेंटो मेरो ॥ ५ ॥ वन्दी-छोर सुनो करुना-मय, करो हिये विच डेरो। धमदास पर दाया कीजै, चौरासी से फेरो ॥ ६)
(धर्मदास साहेब की शब्दावली वि० ३)

विधिवत् सकल शुभसाज युत्, धर्मदास अति उत्सव किये।
सह परिवार दीक्षा प्राप्त करि, स्वात्म समर्पण सब किये॥
जेष्ट पुत्र न लीन्हि दीक्षा, "दास नारायण" अहैं।
प्रमाद विवस न निकट आये, क्रोध शुचि हृदये दहैं॥२७८॥
और सब बर-निष्ठ ईष्ट, अनन्त अविचल जानहीं।
आपन सकल-धन-धाम, तन तिय[१] आदि प्रभु को मानहीं॥
कछु भी नहीं निज-पास है, सद्गुरु को सब अर्पण किये।
दीन-परम अधीन हो, अहंकार निर्मूलन किये॥२७९॥
ह: छं:—"आमिनी" 'धर्मदास" जी, सद्गुरु चरण लवलीन हो।
भक्ती भजन करने लगे, उर प्रेम नित-नव पीन हो॥
कछु दिवस-पद सेवन किये, धर्मदास पद शिरनाय के।
पद रेणु का निज[२] शीश धरि, पुनि कहे विनय सुनाय के॥२८०॥

---

१ श्लोक – शरीरमर्थ प्राणांश्च गुरुभ्यो यः समर्प्पयन्।
गुरुभिः शिष्यते योगं स शिष्य इति कथ्यते॥ १॥
(गु० गी० ५४।५५)

श्लोक—दीर्घ दण्डवदानम्य सुमना गुरुसन्निधौ।
आत्मदाराऽऽदिकं सर्वं गुरवे च निवेदयेत्॥ ५॥
(गुरु गी० ५४।५५)

टीका—शरीर अर्थ (धन) और प्राणों को गुरु के अर्पण करके गुरु से शिक्षा प्राप्त करता है इस कारण शिष्य कहा जाता है॥ १॥ शिष्य को गुरु के सन्मुख दीर्घ दण्डाकार होकर प्रणाम करना उचित है; और असंकुचित चित्त से अपनी आत्मा स्त्री, पुत्र, कन्या, आदि को गुरु को अर्पण करना उचित है॥ २॥
(गु० गी० ५४।५५

२ चौ०—जे गुरुचरण रेणु शिर धरहीं, तेजनु सकल विभव वस करहीं॥१॥
(रा० बा०)

हे दीन वत्सल ! पतित-पावन !, विषम भव-भय भंजनम् ।
त्रिजग परम विहाल कारक, काल-दल-मद गंजनम् ॥
तव-पाद प्रफुलित कंज में, हो भृंग सम मन रंजनम् ।
श्रीचरण अगम आगाधि दधि हो, मीन मम मन मंजनम् ॥२८१॥
प्रभु चरण स्वतः प्रकाश शशि, मम चित्त लगे चकोर हो ।
शशि कलावत् प्रति दिन वढ़े, मम-प्रेम कबहुँ न थोर हो ॥
श्रीचरण स्वाती अम्बुवत, चात्रिक सरिस चित मोर हो ।
पिय ध्वनि निरन्तर लगि रहे, चित चिन्तवन् न भोर हो ॥२८२॥
हे मुकुन्द ! स्वतंत्रता प्रद !, मोह मूल निकन्दनम् ।
शुद्ध-बुद्धि प्रकाश दायिक, हरण-भव दुःख द्वन्द्वनम् ॥
शुद्ध अन्तः करण-करन, अशुद्ध वोध निकन्दनम् ।
हे विश्वेश्वर ! विश्वरक्षक !, सजन करन स्वच्छन्दनम् ॥२८३॥

प्रभु स्वरूप प्रदीप में, मम चित्त नयन पतङ्ग हो ।
मम सुरति स्वामि स्मृति में, शिशु यथा अनिल विहंग हो ॥
आसक्त मन मम रदनि वत, तव भक्ति करणि स्वरूप हो ।
निमिष हूं विसरैं नहीं, नव नित्य-प्रेम अनूप हो ॥२८४॥
प्रभु ! श्रवण मम शव हो रहे, निज-गिरा सुधा पिलाइये ।
कल्प अगिणित विगत भये, अजहूँ तो याहि जिलाइये ॥
ज्यों कुरंग निनाद सुनि, प्रभु शब्द में मम सुरति हो ।
श्रवण मन एकाग्रता, न भेद-भाव स्फुर्ति हो ॥२८५॥
मैं कौन क्या करता[१] सदा ?, है उचित क्या करना मुझे ।
करुणा रणाव उपदेशिये, मम प्यास अभ्यन्तर बुझे ॥

---

१ श्लोक—कथं तरेयं भव-सिन्धुमेतं कावा गतिर्मेकतमोऽस्त्युपायः ।
जानेन किंचित् कृपयाव मां प्रभो संसार दुःख क्षतिमातनुष्व ॥१॥
(विवकचूड़ामणि ४२)

टीका—हे दयासिन्धु गुरु ! इस संसार में मैं कैसे पार हूँगा ? मेरी

अज्ञानता के विवस संतत, कर्म-धर्म न जानहूँ।
विषय भोग-बिलास संतत, परम-पद तेहि मानहूँ ॥२८६॥
इमि विनय करि कर जोरि, पद परि चरण रज शिर पर धरी।
प्रभु आस्य दिशि युग दृग लगे, नीमेष नयनन परिहरी।
"सद्गुरु कबीर" कृपाल तब, मृदु वैन अमि वर्षन लगे॥
सुनि परम-प्रेम पयोधि में, पुनि सुजन जनके मन पगे॥२८७॥
"धर्मदास" तुम सत् लोक वासी, नाम "सुकृत" ख्यात है।
हंसन उबारन आयऊ, धार्यो मनुज को गात है॥
विस्मृतिता अपनी दशा, भव-काल फन्द अपार है।
तामे फँशायि विकार दारुण, दुखद लिय शिर भार है॥२८८॥
मुक्ता वने जिव आयऊ, तुम हंसनों को भूप हो।
स्मरो स्वयं शुचि रूप को, तुम ज्ञान गम्य अनूप हो॥
सीमा नहीं तव शक्ति की, निर्वाच्य स्वतः स्वरूप हो।
मंगल विदायक सकल नायक, स्वतः सिद्ध अनूप हो॥२८९॥
त्यागो-विषय विस्मृतिता, जागो तजो अघ निन्द को।
कल्पित कला सब कल्पना, तजि-आश-पाश-गोविन्द को॥
शुचि-ज्ञान शर सन्धान कर, सत् शब्द शर आसन करो।
मारो प्रबल ऽहंकार को, सानन्द में विचरण करो॥२९०॥
नहिं सबल कोउ तिहुँ लोक में, रण-रंग जो तुम से करे।
चैतन्यता कहँ अपर में ?, को ज्ञान को जीते खरे ?॥
तूं अपन हीं विस्मृति[१] से, निज दास को सेवक बने।

कौन गति होगी ? संसार समुद्र तरने का कौन उपाय है ? मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ, संसारी दुःख से मुझे बचाइये॥ १॥

१ दो०—मन माया बहु छल कियो, किन्हो वहु विस्तार।
सुरति गयी निजरूप की, प्रकट्यो तन हंकार॥ १॥
(प्रबोध चन्द्रोदय नाटक)

निज-वीरता-गम्भीरता, नहिं धैर्यता धारत मने ॥२९१॥

जागो स्वयं जय बोल के, भ्रम-भीति भव-भंजन करो।
निर्भीतिता निर्दीनता, सानन्द में रंजन करो॥
माया तुम्हारी मोहनी, सब-विश्व को मोहित किया।
सो है तुम्हारी अज्ञता, तुमने उसे चेतन किया ॥२९२॥

काम क्रोध विमोह आदिक, सकल प्रबल विकार जो।
लोभ क्षोभ विमत्त मत्सर, दम्भ प्रबला कार जो॥
सो सबल सत्ता तुम्हारी, करति अत्याचार जो।
तव रहित सब निर्जीव ही, जड सहज ही बल हार जो ॥२९३॥

काल कुटिल कराल जो, सो भी सदा जड़ रूप है।
सत्ता तुम्हारिहिं पाय के, नाशत त्रिजग भ्रम कूप है॥

श्लोक—अज्ञानयोगात्म परमात्मनस्तेह्यनात्म वन्धस्तत एव संसृतिः।
तयोर्विवेकोदित वोधवह्हिरज्ञान कार्य्यं प्रदहेत्समूलम् ॥ १ ॥
(विवकचूड़ामणि ४९)

टीका—गुरुदेव कहते हैं कि, हे शिष्य। तुम साक्षात् ब्रह्म हो अज्ञान के संयोग होने से आत्मस्वरूप को भूलकर अनित्य वस्तुओं पर स्नेह करने से संसारी दुःख के भोगते हो जव आत्म अनात्म वस्तुओं का विचार करने से वोधरूप एक अग्नि उत्पन्न होगा तो वही अग्नि अज्ञान कल्पित संसार को समूल नाश करेगा ॥ १ ॥

शब्द—सन्तो ऐसी भूल जगमाहीं, जाते जीव मिथ्या में जाहीं॥ पहिले भूले ब्रह्म अखंडित, झांई आपुहि मानी। झाई मानत इच्छा कीन्हीं, इच्छाते अभिमानी। अभिमानी करता ह्वै वैठे, नाना पंथ चलाया। वही भरम में सब जग भूला, भूलका मरम न पाया॥ लखचौरासी भूल ते कहिये, भूलते जग विटमाया। जो है सनातन सोई भूला अव सो भूलहिं खाया॥ भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहिं लखाई, कहँहिं कवीर भूल की औषधि, पारख सब की भाई ॥ १ ॥ (बीजक शब्द ११५)

अज्ञानता के विवस संतत, कर्म-धर्म न जानहूँ।
विषय भोग-बिलास संतत, परम-पद तेहि मानहूँ ॥२८६॥
इमि विनय करि कर जोरि, पद परि चरण रज शिर पर धरी।
प्रभु आस्य दिशि युग दृग लगे, नीमेष नयनन परिहरी।
"सद्गुरु कबीर" कृपाल तब, मृदु बैन अमि वर्षन लगे॥
सुनि परम-प्रेम पयोधि में, पुनि सुजन जनके मन पगे ॥२८७॥
"धर्मदास" तुम सत् लोक वासी, नाम "सुकृत" ख्यात है।
हंसन उबारन आयऊ, धार्यो मनुज को गात है॥
विस्मृतिता अपनी दशा, भव-काल फन्द अपार है।
तामे फँशायि विकार दारुण, दुखद लिय शिर भार है ॥२८८॥
मुक्ता वने जिव आयऊ, तुम हंसनों को भूप हो।
स्मरो स्वयं शुचि रूप को, तुम ज्ञान गम्य अनूप हो॥
सीमा नहीं तव शक्ति की, निर्वाच्य स्वतः स्वरूप हो।
मंगल विदायक सकल नायक, स्वतः सिद्ध अनूप हो ॥२८९॥
त्यागो-विषय विस्मृतिता, जागो तजो अघ निन्द को।
कल्पित कला सब कल्पना, तजि-आश-पाश-गोविन्द को॥
शुचि-ज्ञान शर सन्धान कर, सत् शब्द शर आसन करो।
मारो प्रबल ऽहंकार को, सानन्द में विचरण करो ॥२९०॥
नहिं सबल कोउ तिहुँ लोक में, रण-रंग जो तुम से करे।
चैतन्यता कहँ अपर में ?, को ज्ञान को जीते खरे ? ॥
तूं अपन हीं विस्मृति[१] से, निज दास को सेवक बने।

कौन गति होगी ? संसार समुद्र तरने का कौन उपाय है ? मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ, संसारी दुःख से मुझे बचाइये ॥ १ ॥

१ दो०—मन माया बहु छल कियो, किन्हो बहु विस्तार।
सुरति गयी निजरूप की, प्रकट्यो तन हंकार ॥ १ ॥
(प्रबोध चन्द्रोदय नाटक)

निज-वीरता-गम्भीरता, नहिं धैर्यता धारत मने ॥२९१॥

जागो स्वयं जय बोल के, भ्रम-भीति भव-भंजन करो।
निर्भीतिता निर्दीनता, सानन्द में रंजन करो॥
माया तुम्हारी मोहनी, सब-विश्व को मोहित किया।
सो है तुम्हारी अज्ञता, तुमने उसे चेतन किया ॥२९२॥

काम क्रोध विमोह आदिक, सकल प्रवल विकार जो।
लोभ क्षोभ विमत्त मत्सर, दम्भ प्रवला कार जो॥
सो सबल सत्ता तुम्हारी, करति अत्याचार जो।
तव रहित सब निर्जीव ही, जड सहज ही बल हार जो ॥२९३॥

काल कुटिल कराल जो, सो भी सदा जड़ रूप है।
सत्ता तुम्हारिहिं पाय के, नाशत त्रिजग भ्रम कूप है॥

श्लोक—अज्ञानयोगात्म परमात्मनस्तेह्यनात्म वन्धस्तत एव संसृतिः।
तयोर्विवेकोदित बोधवह्निरज्ञान कार्य्यं प्रदहेत्समूलम् ॥ १ ॥
(विवकचूड़ामणि ४९)

टीका—गुरुदेव कहते हैं कि, हे शिष्य। तुम साक्षात् ब्रह्म हो अज्ञान के संयोग होने से आत्मस्वरूप को भूलकर अनित्य वस्तुओं पर स्नेह करने से संसारी दुःख के भोगते हो जब आत्म अनात्म वस्तुओं का विचार करने से बोधरूप एक अग्नि उत्पन्न होगा तो वही अग्नि अज्ञान कल्पित संसार को समूल नाश करेगा ॥ १ ॥

शब्द—सन्तो ऐसी भूल जगमाहीं, जाते जीव मिथ्या में जाहीं॥ पहिले भूले ब्रह्म अखंडित, झांई आपुहि मानी। झाई मानत इच्छा कीन्हीं, इच्छाते अभिमानी। अभिमानी करता ह्वै बैठे, नाना पंथ चलाया। वही भरम में सब जग भूला, भूलका मरम न पाया॥ लखचौरासी भूल ते कहिये, भूलते जग विटमाया। जो है सनातन सोई भूला अब सो भूलहिं खाया॥ भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहिं लखाई, कहँहिं कबीर भूल की औषधि, पारख सब की भाई ॥ १ ॥ (बीजक शब्द ११५)

भूत अरु व्रतमान तथा, भविष्य जो त्रिय काल हैं।
जन्मत मरत दुख भोगते, सब जीव भ्रमत विहाल हैं ॥२९४॥
निर्जीव को नहिं कष्ट हो, ज्ञाता स्वयं चैतन्य हैं।
दुख-सुख स्वयं सब मानता, भ्रम-मात्र तजि नहिं अन्य है॥
क्योंकि सुषुप्ति समाधि में, सुख दुःख नहीं कछु ख्यात हो।
चैतन्य तो विद्यमान है, फिर क्यों न दुःख सुख ज्ञात हो? ॥२९५॥
इस हेतु दुःख-सुख ज्ञात हो, चैतन्य [1]जड़ संयोग से।
चैतन्य केवल दुःख रहित, सुख रूप जड़ के ऽयोग से॥
इस हेतु काल कराल दुःख प्रद, भ्रान्ति मात्रहिं सिद्ध हो।
शुद्ध ज्ञान विवेक से, चेतन प्रशान्त प्रसिद्ध[2] हो ॥२९६॥
यदि हो न साहस दृढ़ हिये, तो रहो शुचि सत्संग में।
ज्ञान ध्यान विवेक समता, धैर्य्य तोष प्रसंग में॥

---

१ दो०—माया के संयोग से, चेतन पाय विकार।
जीव ब्रह्मपरमातमा, भयो अनेक प्रकार ॥ १ ॥
(सदुपदेश-मणि० ८६)

२ श्लोक—शोक हर्ष भय क्रोध लोभ मोह स्पृहादयः।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म-मृत्युश्चनात्मनः ॥ १ ॥
(भा० ११।२८)

टीका—भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं कि, हे उद्धवजी ! शोक (दुःख) हर्ष (प्रसन्न) भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा (इच्छा) जन्म-मृत्यु आदि शब्द से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि ये समग्र धर्म अहंकार में दीखते हैं, आत्मा में नहीं है। काहे से कि, सुषुप्ति, समाधि आदि अवस्था में आत्मा है। परन्तु जो अहंकारलीन हो जाता है तो सुख दुःखादि धर्म प्रतीत होते नहीं हैं, और जाग्रत में अहंकार के रहने से सुख दुःख आदि प्रतीत होते हैं इस लिये ये धर्म्म अहंकार में है। आत्मा निर्विकार है ॥ १ ॥ ऐसा ही सर्वत्र मान्य है॥

भक्ति भजन विचार स्वात्म्, मग्न सहजानन्द में।
प्रेम-पर उपकार प्रमुदित, अभय करुणाकन्द में ॥२९७॥
आश-पाश विमोह गत, सन्तत रहो निर्द्वन्द्व में।
सत्य शील क्षमादिवर्तो, सुरति-सुमति स्वच्छन्द में ॥
विषय-विवस विकारियों के, स्वप्न न सहवास हो।
प्रेम-पात्र विचारियों के, संग से न निराश हो ॥२९८॥

इत्यादि शुभ्र रहस्य धरि, दृढ़ भाव-गत दुरवासना।
स्वेच्छा जहाँ विचरो तहाँ, फिर काल की कछु त्रासना ॥
काल हो बल हीन दीन, अधीन तव चरणन परे।
त्यागि कर्म मलीन सब छल, छीन पद रज शिर धरे ॥२९९॥

काल तब तक ही सबल, जब तक न शुद्ध स्मृति हो।
प्रवृत्ति विषयन-विषमता, जब लगि न राग निवृत्ति हो ॥
तम घोर तब तक ही रहै, जब लगि न हंस प्रकाश हो।
दिनकर उदय के होत ही, सब लोक मध्य विकाश हो ॥३००॥

तथा शुद्ध स्मृति से, अज्ञान-तम का नाश हो।
तम रज सतोगुण लोक में, स्व प्रकाश नित्य विकाश हो ॥
सब इन्द्रियाँ, प्रकृतियों की, तमा-तम-भव दूर हो।
मन बुद्धि चित अहंकार में, न विषय का अंकूर हो ॥३०१॥
सद्गुरु चरण-नख ध्यावते, भव-भ्रान्ति-तम निर्मूल हों।
स्वतः सहज प्रकाश ते, सब शमन भव-भय शूल हों ॥
प्रतिकूलता सह मूल गत, सब देव गण अनकूल हों।
कष्ट प्रद जो शूल शय्या, सो सुखद-मृदु फूल हों ॥३०२॥

तेहि नाम सुनि के काल कम्पित, जो सदा जन ध्यावहीं।
शमन सकल विकार भ्रान्तिज, वे अमर-पद पावहीं ॥
धर्म्मदास नाम तुम्हार कलि-मल, हरण कारक सहज में।
हंस नायक परम लायक, ध्यान सद्गुरु अर्ज में ॥३०३॥

जेहि सत्य सत्ता से सबल सब, सो स्वरूप सम्भार लो।
भव-विघ्न कछु व्यापे नहीं, श्रम हीन हंस उबार लो॥
मुक्ता वहू सब जीवनों को, शुद्ध सदुपदेश ते।
वास्तव सदयता यही है, रक्षाहि करण क्लेश ते॥३०४॥

इस हेतु ही तुम आयऊ, भूलो न निज कर्त्तव्य को।
कर्तव्यता दिखलावहू, त्यागो वृथा वक्तव्य को॥
असिम स्वात्म प्रताप तुम में, भ्रान्ति-दुर्बलता तजो।
कादरपना तजि शीघ्र ही, अब सहज शूरतायी भजो॥३०५॥

मयत्रि करुणा मुदिता उपेक्षा, सहज दृढ़ हृदये धरो।
सत्संग सेवा सन्त की, नहिं स्वप्न हूँ में परि हरो॥
तीन काल[१] त्रिलोक में, सत्संग हंस उधारहीं।
सन्त सेवा शीघ्र ही, भव-सिन्धु पार उतारहीं॥३०६॥

---

१ सा०—कोटि कोटि तीरथ करे, कोटि कोटि करिधाम।
जब लगि साधुन सेवई, तब लगि सरे न काम॥ १॥
परमातम से संत बड, ताको का उनमान।
हरि माया आगे धरी, सन्त सदा निर्वान॥ २॥
साधु मिलै यह सब टलै, काल जाल जम चोट।
सीस नवावत ढहि पड़ै, अघ पापन के पोट॥ ३॥
हरि सो तूं मति हेतु करु, कर हरिजन से हेत।
माल मुल्क हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥ ४॥
साधु सिद्ध वहु अन्तरा, साधु मता परचंड।
सिद्ध जो तारे आप को, साधु तारि नौ खंड॥ ५॥
आशा वासा संत का, ब्रह्मा लखै न वेद।
षट् दरसन खट पट करैं, बिरला पावै भेद॥ ६॥

वेद थके ब्रह्मा थके, थाके शेष महेस।
गीता हूं की-गम नहीं, सन्त किया परवेस ॥ ७ ॥
(सा० ग्रं० साधुको अंग)

चौ०—जल चर थल-चर नभ-चरनाना। जे जड चेतन जीव जहाना ॥१॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जव जेहि यतन जहाँ जेहि पाई ॥२॥
सो जानव सत्संग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ ॥३॥
सत-संगति-मुद मंगल मूला। सो-फल सिधि सव साधन फूला ॥४॥
विधि-हरि-हर, कवि, कोविदवानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी ॥५॥
दो०—तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरी तुला इक अङ्ग।
तुलै न ताहि सकल मिली, जो सुख लव सतसंग ॥ १ ॥
सन्त संग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं सन्त मुनि कोविद, श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ ॥ २ ॥
(रामायण)

श्लोक—शान्ता महान्तोनिव सन्ति सन्तो वसन्त वल्लोकं हितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवं जनानहेतुं नान्यानपि तारयन्तः ॥ १ ॥
(विवेक चूडामणिः ३९)

टीका—शान्त स्वभाव महात्मा लोग बड़े भयानक संसार समुद्र से स्वयं उत्तीर्ण होकर विना कारण दया भाव से संसार समुद्र में बहते हुए मनुष्य को उद्धार करने के कारण संसार में निवास करते हैं ॥ १ ॥

श्लोक—साधुनां दर्शनं पुण्यं स्पर्शनं पापं नाशनम्।
पादोदकं च तीर्थानिनैवेद्यं परमं पदम् ॥ १ ॥
(वै० गी०)

टीका—साधुओं का दर्शन सर्वोपरि पुण्य हैं; और स्पर्शन (चरणादि छूना) करने से सव पापों का समूह समूल नाश को प्राप्त होता है उनका चरणोदक (पाद प्रच्छालन जल) सर्वोत्तम तीर्थ है और नैवेद्य भुक्त शेष प्रसाद (जूठन) परम पद क प्रदाता है ॥ १ ॥

श्लोः—तिस्रः कोटयोऽर्धं कोटी च तीर्थानि भुवनत्रये ।
वैष्णवांघ्रि जलात् पुण्यात्कोटि भागे न नोत्तमाः ॥ १ ॥
(पद्म क्रिया योग)

टीः—तीन लोकों में मिल कर साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं, सम्पूर्ण तीर्थों का सेवन मात्र से जो फल प्राप्त होते हैं वे सब महात्माओं के चरणोदक के एक विन्दु के कोटि भाग करने से एक भाग के तुल्य भी नहीं तुलते हैं। क्योंकि तीर्थों का कुछ प्रासङ्गिक फल प्राप्त होता है और महात्माओं का पादोदक मोक्ष का प्रधान कारण है। जिससे आवागमन की सर्वथा निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

श्लोक—यं यं स्पर्शति पाणिभ्यां यं यं पश्यति चक्षुषा ।
स्थावराण्यपि मुच्यन्ते किं पुनर्बान्धवा जनाः ॥ १ ॥
तत्पदाम्बु वरं तीर्थं तदुच्छिष्टं सुपावनम् ।
तदुक्त मात्रमंत्राग्र्यं तत्स्पृष्टमखिलं शुचि ॥ २ ॥
(नारद पञ्चरात्रौ)

टीका—जिस २ को सज्जन (साधुजन) हाथों से छूते हैं और जिस २ को नेत्रों से देखते है वे स्थावर भी पापों से छूट जाते हैं। तब उनके सम्बन्धियों का क्या कहना है ॥ १ ॥ उनके चरण प्रच्छालन का जल सर्वोत्तम तीर्थ है और उनका उच्छिष्ट (जूठन) अति पावन है, उनके वचनमात्र महामंत्र है और उनका छूवा समस्त पावन (पवित्र) है ॥

श्लोक—गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।
पापं तापं च दैन्यं च हरेत् साधु समागमः ॥ १ ॥
सत्संगेन परं प्राप्य दुस्तरं तरतेऽचिरात् ।
तस्मादति प्रयत्नेन सत्संगं सततं कुरु ॥ २ ॥
(ज्ञान गीता)

टीका—गंगा में स्नान करने से पाप और चन्द्रमा के दर्शन से बाह्य-ताप तथा कल्पवृक्ष से, आर्थिक दैन्यता निवृत्ति होती है; और संतसमागम

ह० छं०—सत्संग विनु[१] नहिं मोहगत, सत्संग विनु हत भागहीं।
सत्संग विनु नहिं अहं गत, सतसंग विनु अघ लागहीं॥
सत्संग विनु ममता प्रवल, सत्संग विनु भ्रम जागहीं।
इस हेतु सत्संगति सुरक्षकि, जानि जन मन पागहीं॥३०७॥

मल विक्षेप आवरण युत्, चैतन्य सह दोषी भयो।
अमल ज्ञान विवेक गत, वैराग्य सह मूलहिं गयो॥

से तो संचित, प्रारब्ध, तथा क्रियमाण पापों के समूह का और वाह्य तथा आन्तरिक कामादि आध्यात्मिकादि त्रिविधि तापों का समूल से विनाशक है और समस्त कामनाओं को पूरण कर सन्तोष प्रदान करता है कि जिसके सामने ब्रह्मादिकों के भोग भी तुच्छ वमनवत् या काक विष्ठवत् जान पड़ते हैं। ऐसा अकथ्य सन्त समागम है॥ १॥ सत्संगे (सद्गुरु समागम) से परमपद की प्राप्ति होती है और संसार-महोदधि को विना श्रम शीघ्रता से ही उल्लंघन किया जा सकता है; इस कारण सव प्रयत्नों द्वारा सदा सत्संग करना चाहिये॥ २॥

१ दो०—सत्संगति सुख सिन्धुवर, मुक्ता निज कैवल्य।
आशय परम अगाधि अति, पैठे मन दल मल्य॥ १॥
सतसंगति सुख पलक जो, मुक्ति न तासु समान।
ब्रह्मादिक इन्द्रादि भू निपट अल्प ए जान॥ २॥
जगत मोह फांसी अजर, कटे न आन उपाय।
उजो नित सत्संगति करत, सहज मुक्ति होय जाय॥ ३॥
कामधेनु अरु कल्पतरु, जो सेवत फल होय।
सत्संगति छिन एक में; प्राणी पावै सोय॥ ४॥
पारस मैं अरु सन्त मैं, बड़ो अन्तरो जान।
वह लोहा कंचन करै, यह करै आप समान॥ ५॥
(विचार माला वि० २।१२।१३।१४।१५।१६।)

सन्त सेवन मात्र से, त्रिय दोष सहज निकन्द हो।
त्रिय दोष विगत स्व बोध से, चैतन्य सहजानन्द हो ॥३०८॥

इस हेतु सत्संगति सदा, चहिये, करन वर निष्ठ को।
सत्संग स्वतः प्रकाश से, निर्मूल कर्म अनिष्ठ को॥
सन्त सेवन करत ही, विवेक, दिव्य सु दृष्टि हो।
भ्रान्ति-भेद शमन सकल, सम् स्वात्मा सब सृष्टि हो ॥३०९॥

भावें करो धर्म्मदास ! तोहिं, तारण-तरण की शक्ति है।
स्वाधीनता तुम में सदा, करनी करावनि भक्ति है॥
करणधार भवाब्धि के, तुम तरो-तारो अवर को।
या-आप भव-दधि में परो, वा-हंस डारो भँवर को ॥३१०॥

धर्म्मदास सुनि प्रभु पद परें, बोले युगल कर जोर के।
हे दीन रक्षक ! पतित-पावन !, क्षमिय चूक बहोर के॥
मैं-हूं महा बल हीन बालक, सबल शत्रु प्रघोर है।
त्रय लोक नृत्य करावता, अत्यन्त वा में जोर है ॥३११॥

जीवनों का भार शिर ले, विजय तेहि रण किमि करूँ ?।
समझायिये करुणा पयधि, तव कंज-पद वन्दन करूँ॥
सब जीव तेहि अनुकूल संतत, सत्य के प्रतिकूल हैं।
भर्महिं सदा भव-धार में, भोगत त्रिविध-विधि शूल हैं ॥३१२॥

सदुपदेश-सुनते द्वेष मानै, करैं विग्रह बल यथा।
मग्न-विषया नन्द से, फल-कष्ट भी भोगैं तथा॥
फिर भी नहीं चित् चेत हो, कैसी अहा ! विपरीतता ?
शीश धुनि रोदन करैं, तद् येन्द्रियाँ निर्जीतता ॥३१३॥

काल-व्याल को ग्रास हो, संतति सहत दुर्गति महा।
काल की कल्पित कला, अति कष्ट नहिं जाता सहा॥
दातार दुख सुख केर ईश्वर, अज्ञता वस मानहीं।

चाहैं करावन करैं सो[1], यह बाद उलटे ठानहीं ॥३१४॥
परमेश की स्वेच्छा बिना, इक त्रीण तक हलता नहीं।
नभ तेज पानी क्षोणि आदिक, पवन तक चलता नहीं ॥
यह मूढ़ मुख से तो कहैं, अहंकार की सीमा नहीं।
जाके विवस व्याकूल सदा, पल शान्ति की रेखा नहीं ॥३१५॥
परमेश यदि करवा वहीं, सब कर्म जीवन से सहीं ?।
फिर कष्ट क्यों देते इसे ?, क्या नीति से ये अघ नहीं ? ॥
अन्याय यदि जगदीश में, फिर न्याय का करतार को ?।
नारि ह्वै अघ चारणी. शिर भार हो भरतार को ? ॥३१६॥
यहि भांति अत्याचार नाना, विश्व में विभ्रान्ति है।
परिणाम या कर कष्ट अतिशय, स्वप्न में नहिं शान्ति है ॥
वेद शास्त्र पुराण नाना, संहिता परमाण है।
अति उक्ति युक्ती तर्क विद्या, बुद्धि का अभिमान है ॥३१७॥
यहि भांति नाना वाद कर, शुचि-ज्ञान को नहिं मानहीं।
सदाचार विचार तजि, अघ चार मोक्षद जानहीं ॥
ऐसी दशा विपरीति जहँ ?, शुचि-बोध सो किमि मानिहैं।
ज्ञान ध्यान विवेक तजि, हठ वाद मिथ्या ठानिहैं ॥३१८॥

---

१ श्लोक—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १ ॥
(गी० १८—६१)

टीका—१ भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं कि, हे अर्जुन ! शरीर रूप यंत्र में आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है ॥ १ ॥ (६७)

चौ०—नट मरकट इव सबही नचावत। राम खगेश बेद इमि गावत।
उमा दारु योषित की नाईं। सबहीं नचावत राम गोसाईं ॥ (रा.)

इस हेतु सद्गुरु ! कृपामय !, मोहिं उचित शिक्षा दीजिये।
निज चरण सेवन में सदा, मुझ दीन को रखि लीजिये ॥
अनुचित हमारी आश-तो, सो क्षमा सद्गुरु कीजिये।
आरति सदा मेरी यही, निज शरण अविचल दीजिये ॥३१९॥
सद्गुरु कहैं धर्म्मदास ! तुम, सद्बोध प्रोत्साही बनो।
चूको न निज कर्तव्य पर, उपकार-पथ ग्राही बनो ॥
ऐसा नहीं सब लोक ही, कू-मार्ग-गामी हों सदा।
सत्पात्र भी संसार में हैं, धर्म्म-पालक निर्मदा ॥३२०॥
स्वामी सवी का एक[१] हैं, स्वामि का भी कोई विर्लही।
लाखनों में को गनै ?, कोटों में कोइ प्रभु-पद गही ॥
रण मध्य में योधा घने, कोइ विरल ही जो [१]जयल भी।
शस्त्रादि को सम्मुख सहे, नहिं पीठ दे आगे कभी ॥३२१॥
परमार्थं रण रंगी तथा, नहिं पीठ दे भागें कभी।
हस्त गत निज राज्य कर, हों सुयश का भागी तभी ॥
शहर में अति भीड़ हो, बाजार मनुजों से भरी।
विर्लही जन-जौ हरी, जो रत्न[२] की पारख करी ॥३२२॥
त्यों शब्द रत्न अमूल्य का, कोई परीक्षक विरल ही।
तन मन सजन धनधाम तजि[३], सद्गुरु कमल पद जो गही ॥

---

१ सा०—साहेब सबका एक है, साहेब का कोइ एक।
लाखन मध्ये को गने ?, कोटिन मध्य विवेक ॥ १ ॥
(सा० प्र०)

१ सो०—लड़मे को सब ही चले, सस्तर बाँधि अनेक।
साहेब आगे आपने, जूझेगा कोइ एक ॥ १ ॥

२ पद—गाँव नगर की भीड़ घनेरी, नाना जुरे बजारा।
तामें कोइ कोइ रतन पारखी, दुनियाँ बसे अपारा ॥

३ सा०—तीर तुपक से जो लड़ै, सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करे, सूर कहा वे सोय ॥ १ ॥

यश पात्र हों तिहुँलोक में, ऐस्वर्य्यं स्वात्म् पावहीं।
निवृत्ति सारी वासना, सानन्द मङ्गल गावहीं ॥३२३॥
सती सब धन धाम तजि, निज स्वामि संग सिधावहीं।
विरह वह्नि [1]प्रज्वलित करि, मन मुदित वपुष जलावहीं॥
तथा सद्गुरु दास भी, तजि सकल आश विलास को।
सद्गुरु जलज-पद लीन हो, करि शमन-शमन कि त्रास को ॥३२४॥
विरल शैल में रहत माणिक, मुक्ति का[2] कोई गजन में।
विरल वन में रहत चन्दन, ज्ञान त्यों कोइ सजन में॥

जब लाज धर पर सीस है, सूर कहावे सोय।
माथा कटि धर सो लडै, कवध कहावै सोय ॥ २ ॥
सूरा सोई सराहिये, अंग न पहिरे लोह।
जूझै सब वन खोलि के, त्यागे तन का मोह ॥ ३ ॥
(सा० ग्रं०)

१ सा०—सती जरन कोनी कसी, चित धरि एक विवेक।
तन, मन सौंपा पीव को, अंतर रहीं न रेख ॥ १ ॥
"अग्नि जरे ताको सती न कहिये, रैन जुझै नहिं सूरा।
ब्रह्म अग्नि में तन, मन होमें, तब पावे पद पूरा ॥"

२ श्लोक—शैले शैल न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहिं सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥ १ ॥

टीका—सब पर्वतों पर माणिक्य नहीं होता, और मोती सब हाथियों में नहीं मिलता, साधु लोग सब स्थानों में नहीं मिलते और सब वन में चन्दन नहीं होता ॥ १ ॥

सा०—सब वन तो चन्दन नहीं, सूरा के दल नाहिं।
सब समुद्र मोती नहीं, यों साधु जग माँहिं ॥ १ ॥
सिंघन के लेहडा नहीं, हंसों की नहिं पांत।
लालन की नहिं बोरियौं, साधु न चले जमात ॥ २ ॥
(सा० ग्रं०)

इमि समझि परमा शक्ति तजि, निज कार्य करना चाहिये।
कल्पित मनो मय कल्पना, को ज्ञान-शुचि सो दाहिये ॥३२५॥
रचना सकल माया मयी, चैतन्य ही स्वेच्छित् रची।
इस हेतु लीला शक्ति से, कोइ विरल ही [1]सज्जन बची ॥
ब्रह्ममय[2] रचना सवी, आचार्य्य गए वर्णेय भी।
संसार से निर्बन्ध हो, जब ब्रह्म को त्यागे तभी ॥३२६॥
ब्रह्म [3]जग का बीज है, उस ब्रह्म को त्यागे बिना।
फिर त्याज क्या संसार में ?, उर समझ लो सब सज्जना ॥

---

१ भजन—माया के गोविन्द है, गोविन्द माया की।
माया औ गोविन्द के, काहू अन्त न पाया ॥ टेक ॥
राजकुँवारी द्वारे सोहई, माया विन नंगी। माया घर चण्डाल के, सोहत अति चंगी ॥ जेते वेद किताब हैं, माया विन फीके ॥ जेते देवी देहरा, माया सो नीके ॥ शेखसैयद मुनि जना, सव माया के वारी ॥ ऊपर त्यागी सब कहे, अन्तर की प्यारी ॥ आगे से माया चली, पीछे भी माया ॥ कहें कवीर साधू विना, कोई अन्त न पाया ॥ १ ॥

२ श्लोः—तरंग फेन भ्रम वुद्बुदादि वत्सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा।
चिदेव देहाद्य हमं तमे तत्सर्वं चिदेवैक रसं विशुद्धम् ॥ १ ॥
(विवेक चूडामणिः ३११)

टीः—जैसे जल में तरंग फेन, जलका इकठ्ठा घूमना और जल का वुद वुद (वुलवुल्ला) ये सब अनेक रूप से दिखाई देते हैं। परन्तु जल से भिन्न नहीं हैं, जल रूप ही हैं। तैसे देहादि अहंकार पर्यन्त जितनी वस्तु दीखती हैं सो सव अखण्ड विशुद्ध चैतन्य स्वरूप ही हैं। चैतन्य से भिन्न कुछ भी पदार्थ नहीं है ॥ १ ॥ (३११)

३ साः—ब्रह्म जगत का वीज है, जो नहिं ताको त्याग।
जगत ब्रह्म में लीन है, कहहु कौन वैराग ॥ १ ॥
(सा० ग्रं०)

"बीज मैं सब भूत का"[१], श्री कृष्ण जी कहते यही।
कल्पित कथा अति युक्ति नहिं, [२]श्रुति सन्त का सम्मत् यही ॥३२७॥
स्वेच्छा[३] से प्रेरित ब्रह्म, आविर्भाव माया का किया।
बीजन्दे तेहि गर्भ में, विस्तार रचना का किया ॥
इस हेतु तजि के ब्रह्म को, शुद्धात्मा आगे बढ़ें।
इच्छा अनिच्छा दमन करि, सानन्द शान्त स्व गढ़ चढ़ें ॥३२८॥
इस हेतु सब सन्देह तजि, कर्तव्य निज पालन करो।
संकल्प सकल विकल्प गत, उद्योग दृढ़ धारण करो ॥

---

१ श्लोः—बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥ १ ॥
(गी० ७।१०).

टीः—कृष्ण जी कहते हैं कि, हे अर्जुन ! तूँ सम्पूर्ण भूतों का सनातनः कारण मेरे को ही जान ॥" .

२ श्लोः—सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्द वस्तुनि ॥ (वाक्यसुधा);

टीः—सृष्टि नाम ब्रह्म रूप का है क्योंकि सब सच्चिदानन्द स्वरूप. एक मात्र वस्तु है अन्य कुछ भी नहीं ॥ १ ॥

३ श्लोः—तदैक्षत बहुः स्यां प्रजाययेति ।
सोऽकामयत बहुः प्रजाययेति ॥ १ ॥
(तैत्तिरीयोपनिषद ब्रह्मानन्द वल्ली । अनुवाक्य ६).

टीः—सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि मैं बहुत रूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊँ । संकल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया ॥१॥ इस प्रकार से-दृष्टान्त—"यथोर्णनाभिः सृजतेग्रहृते च"
(मुं० मुं० १ खं० १ मं ७).

टीः—जैसे मकड़ी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती, अपने हि में से तंतु (सूत) निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है। वैसे ब्रह्म अपने में से जगत को बनाए आप जगदाकार बन आप ही क्रीड़ा कर रहा है ॥ ३ ॥

कार्य सबही सिद्ध हो, करुणा कटाक्ष कृपाल के।
विघ्न कछु व्यापे नहीं, जो शरण जाय दयालु के ॥३२९॥
यथा भूने अन्न में, उद्भवतता रहती नहीं।
पर क्षुधा की निवृत्तिता की, शक्ति नहिं जाती कहीं॥
इच्छा अनिच्छा विगत त्यों, उप राम चित् विचरो सदा।
राग-त्याग विहीन हो, स्वाधीन राजो गत मदा ॥३३०॥
शिर नाय कहें धर्म्मदास, साहेब ! बचन तव पालन करूँ।
सामर्थ्य हीन मलीन मति, अति दीन किमि दृढ़ता धरूँ ? ॥
प्रभु ! चरण रज की आश केवल, अपर आशा परिहरूँ।
तिहुँ लोक पावनि करनि पद रज, सो सदा निज शिर धरूँ॥३३१॥
[१]शारद् महेश गणेश नारद, आदि की गणती नहीं।
तहँ मूढ मम क्या लेख है ?, मन समझि नहिं ठहरे कहीं॥
इस हेतु प्रभु ! पुनि-पुनि नमों, पद-रेणु का वन्दन करूँ।
दीन-वत्सल पतित-पावन, सुयश सुनि धीरय धरूँ ॥३३२॥
मंगल-करण ! तम-हरण ! सद्गुरु !, कृपा पात्र बनाइये।
अज्ञ शिशु जन जानि समर्थ !, बन्ध-मोक्ष सुनाइये ? ॥

---

१ भजन-प्रभाती—जय जय सतगुरु कबीर, संतन सुखकारी ॥ टे० ॥ कमल पत्र पर अनूप, लीला करि धारि रूप, प्रगट जग हंस भूप, अजर निर्विकारी ॥ मङ्गल मय सिद्धि सदन[१], दिव्य शर्व रीश[२] वदन[३], वारों[४] लखि कोटि मदन, बाल ब्रह्मचारी ॥ शोभित मुद्रा विशाल, शुभ्र[५] सरल[६] तिलक भाल, भूषित उर रत्न माल, शीश मुकुटधारी ॥ गावत गुण सुर अशेष, नारद शारद[७] गणेश, कमलासन[८] अरु महेश[९], दै दै कर तारी ॥ पारि जात तरुण परण, के समान अरुण चरण, शरण आय धर्म्मदास, तन, मन, धन वारी ॥ १ ॥ (क० सं०)

---

१ सिद्धि का स्थान २ चन्द्र ३ मुख ४ निछावर करना ५ श्वेत ६ सीधा ७ सरस्वती ८ ब्रह्मा ९ महादेव ॥

जानि बन्ध विमोक्षता का, हृदय शुभ धारण धरूँ।
उपदेश करि जिज्ञासुवों को, सफलता कारय करूँ ॥३३३॥
सद्गुरु कहैं धर्म्मदास ! तुम, एकाग्र-मन-श्रुति को करो।
कहूं अनुभव गम्य ज्ञान, विवेक वर धारण धरो॥

वन्ध-मोक्ष प्रदर्शन।

चैतन्य-जड़ सम्बन्ध को, श्रुति-सन्त बन्धन कहत हैं।
सम्बन्ध-विगत-विमोक्ष निश्चय, विवुध गण तेहि चहत हैं ॥३३४॥
संवंध त्रिविध [1]प्रकार सज्जन, वृन्द बुध गण जानहीं।
संयोग समवाय प्रथम, अध्यासि द्वितीय मानहीं॥
तृतीये "तादात्म्य" संवंध, धी वर जानहीं।
"तादात्म्य" त्रिय[2] भांति के, श्रुति सन्त विवुध वखानहीं ॥३३५॥
"सहज" "कर्मज" "भ्रांति" ये ही, तीन 'तादात्म्य' अहैं।
संवंध त्रिविध प्रकार ये, चैतन्य ने स्वेच्छित ग्रहैं॥
संबंध तीनों डारी फांसी, स्वयं चेतन खेलहीं।
तीन काल त्रिलोक में, निज कष्ट अगिणित झेलहीं ॥३३६॥
संबंध 'जड़' "चैतन्य" [3]ग्रन्थी, कहहिं बन्धन याहि को।

१—तीन संवंध से वंधकर शुद्ध "चैतन्य" जीवात्मा कहलाता है। संबंध ३ प्रकार के ये हैं १—संयोग समवाय २ अध्यासि ३ तादात्म्य ॥

२ तादात्म्य संवंध भी ३ तीन प्रकार का है। १ सहज २ कर्मज ३ भ्रान्तिज ॥ तीनों संवंधों का कर्ता स्वयं चेतन है। ये तीनों सम्बन्ध रूप फांसी आपही चेतन अपने गले में लगा ली है॥

३ श्लोः—मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति नग्रा मान्तर मेववा।
अज्ञान ग्रन्थि नाशो भोक्ष इति स्मृतः ॥ १ ॥

टीः—मोक्ष के रहने का कोई नियत स्थान नहीं है न तो मोक्ष का कोई गांव है, हृदय की अज्ञान की ग्रन्थि के छुटने का नाम मोक्ष है ॥१॥

इस ग्रन्थि को जो छोड़हीं, मोक्षात्मा कहि ताहि को ॥
मोक्ष केर उपाय विविधि, प्रकार ऋषि मुनिवर कहैं।
जामें विविध मत-भेद पावक, सरिस संशय उर दहैं ॥३३७॥
निर्पक्ष-निर्णित् मोक्ष हित, हैं मार्ग विविध प्रकार के।
निर्धार जामें परख-पद, कृत कार्य काल प्रहार के ॥
विस्मृति सहज स्वरूप की, वंधन कराल विशाल है।
स्मृति-सहज स्वरूप की, परमोक्ष शुद्ध निहाल है ॥३३८॥
अहं ममता युक्त बन्धन[1], मोक्ष अहं प्रहार हैं।
सर्व ममिता विगत होना, मोक्ष-पद निर्धार है ॥
दुष्ट संगति सेवना ही, बन्ध प्रद [2]व्यवहार है।
सन्त[3] संगति-पाद सेवन, मोक्ष-पद दातार है ॥३३९॥
विषय[4] आशा महा पाशी, मोक्ष-विषय विनाशनम्।
सद् ग्रंथनों का मत यही, निर्मोक्ष स्वतः प्रकाशनम् ॥

---

१ श्लोः—यदा नाहं तदा मोक्षा यदाहं बन्धनं तदा।

(अष्टावक्र गीता अ० ४)

टीः—जव तक मैं देह हूँ इस प्रकार का अभिमान रहता है तव तक ही यह संसार बन्धन रहता है और जव मैं आत्मा हूं, इस प्रकार का अभिमान दूर हो जाता है, तव मोक्ष होता है ॥ अन्यत्र भी कहा है ॥

श्लोः—अहं ममेत्ययं बन्धो नाहं ममेति मुक्तिता"

टीः—जव तक मैं हूँ और मेरी वस्तु या कुटुम्ब हैं यह अभिमान है, तव तक संसार बन्धन है और जव मैं और मेरे परिवार या पदार्थ नहीं हैं, ऐसा अहङ्कार दूर हो जाता है तव मोक्ष होता है ॥

२ चौः—दुर्जन संग महा दुःखदाई। जनु कपिलहिं घालै हरहाई ॥

३ चौः—वड़े भाग्य पाइय सत्संगा। विनहिं प्रयास होय भव भंगा ॥

(रा०)

४ श्लोः—विषयाशामहा पाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात्।
स एव कल्पते मुक्तै नान्यः षट् शास्त्र वेद्यपि ॥ १ ॥

बन्धन प्रदायक [१]राग है, मोक्षद विरागहिं मानिये।
यह कल्पना कल्पित नहीं, वीवेक द्वारा जानिये ॥३४०॥
तोष गत बन्धन महा[२], परमोक्ष प्रद सन्तोष है।
सन्तोष ही नन्दन विपिन[३] मन बुद्धि करत अदोष है॥

टीः—विषय की आशा रूप दुस्त्यज महापाश से जो मनुष्य बचे हैं वे ही मोक्ष के भागी होते हैं और आशा में फँसा हुआ षट् शास्त्री भी मोक्ष का भागी नहीं होता ॥ १ ॥ (विवेक चूडामणिः ८०)

१ श्लोः—विषयाख्य ग्रहो येन सुविरक्त्यसिनाहतः।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूह वर्जितः ॥ १ ॥
(वि० ८३)

टीः—विषय रूप ग्राह को जो मनुष्य वैराग्य रूप तरवार से नाश करता है वह मनुष्य निर्विघ्न संसार समुद्र से पार हो जाता है ॥ १ ॥

२ चौः—विनु सन्तोष न काम नशाहीं।
काम अच्छत सुख सपनहुँ नाहीं ॥ १ ॥ (रा०)

श्लोः—अस्मिन् जगति जन्तूनां जरा मरण शालिनाम्।
अजराऽमरणं कर्तुं सन्तोषोऽस्ति रसायनम् ॥ १ ॥
(यो० वा० नि० उ० स० ४७।४३)

टीः—इस संसार के समस्त प्राणी जीव जरा (वृद्धता) जन्म और मृत्यु स्वरूप महाकष्ट भोगते हैं, सब कष्टों का विनाशक और अजर अमर करने के लिये, एकमात्र सन्तोष ही रसायन है ॥ १ ॥ (कई वस्तुओं को एक में मिली हुई को भिन्न २ करने की किमियाका नाम रसायन है) ॥

३ श्लोः—नसन्तोषात्परं सुखम् ॥ १ ॥ "सन्तोषो नन्दनं वनम्"
(चा० ८।१३।१४)

अर्थात् सन्तोष से परे कोई सुख नहीं है ॥ १ ॥
"सन्तोष नन्दन वन इन्द्र की वाटिका है।"

बन्धप्रद दुर्वासना[१], निर्वासना ही मोक्ष है।
जानहीं सज्जन विवेकी, जाहि बोध समक्ष है ॥३४१॥
बन्ध मोक्ष प्रदत्त [२]मनहीं, सन्त श्रुति सम्मत् यही।
विषयि मन ही बन्धप्रद, वीमोक्षप्रद शुचि मन कही ॥

सा:—गोधन गजधन वाजिधन, ओर रतन धनखान।
जव आवे सन्तोष धन, सव धन धूर समान ॥ १ ॥

१ श्लो:—संसार कारा गृहमोक्ष मिच्छोरयो मयं पाद निवन्ध शृङ्खलम्।
वदन्ति तज्ज्ञाः पटुवासना क्रयं योऽस्मादि मुक्तः समुपैति मुक्तिम् ॥
(वि० २७३)

टी:—संसार रूप कारागृह (कारागार-जेल) से मोक्ष होने की इच्छा करते हुए मनुष्य को पैर वांधने के निमित्त लोक वासना, शास्त्र वासना, देह वासना ये तीनों वासना लोहे की प्रवल शृंखला से जो मनुष्य मुक्त होता है वही मोक्ष भागी होता है ॥ १ ॥ (२७३)

२ भजन:—हंसामन खेले जग जूवा, सुर नर मुनि को पकडि पछारे, आप कभी नहिं मूवा ॥ जल में मन है थल में मन है, उड़ गनगन आकाशा, सव घट फिरै मरम नहिं देवै, इस विधि करै तमासा ॥ योगी मन है भोगी मन है, मन कवि दीपक साथा। गोरख, दत्त, भरथरी, योगी, मन कहिये सव साथा ॥ शुकदेव कथा जुमनहिं मनोरथ, मने व्यष्टि परधाना। उनके तन मन मगन भये हैं, तामें जग अरुझाना ॥ जयदेव मन औ जनक विराजे, सो मन व्यास वखाना। पाराशर ऋषि मदूगुरु माधव। धरनी सव लपटाना ॥ देवी मन और देवन मन है तीरथ जप तप पूजा। करामात मन करे तमासा, मन करता है दूजा ॥ ब्रह्मादिक सनकादिक मन है, मन गणेश गुरु ज्ञानी। गौरी गणपसेनपति कहिये, उनहूं मन नहिं जानी। हरि भक्तन मिलि भक्ति वखाने, सो पद मन लौलीना। कहैं कविर कोइ किरले जौं हरि, कोटिन में कोइ भीना ॥ १ ॥
(शब्दामृत-सिन्धु प्र० ३९।१४)

बन्ध कर्ता तप्त [१]चित है, चित्त शीतल मोक्षदा।
सानन्द चित् जन जानहीं, जो पालहीं शुचि मर्यदा ॥३४२॥
बन्धदा स्व चपलताई, मोक्ष दानि स्व निश्चला।
संशय विपर्य-रहित ज्ञानी, जानहीं अद्भुत कला॥

चोः—यह मन को चीन्हे कोइ सन्ता। पकड़ि लगावे चरण अनन्ता॥
(विसरा०)

श्लोः—मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयो।
वन्धाय विषया सक्तं मुक्तौ निर्विषयं स्मृतम्॥ १॥
(ब्रह्मविन्दुप०)

टीः—मनुष्य के बन्ध औ मोक्ष का कारण मनहीं है, जब मन विषय शक्त होता है तब बन्धन और जब मन विषय से रहित शुद्ध शान्त हो स्वस्वरूप की स्मृति-ध्यान करता है तब मोक्ष होता है॥ १॥

१ श्लोः—चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेश दूषितम्।
तदेव तद्विनिर्मुक्तं भवान इति कथ्यते॥ १॥
(यो० वा० ३।-८४।३)

टीः—चित्त ही चैतन्य को राग-द्वेषादि दोषों से दूषत करके संसार वन्धन से बाँधता है और अनेक क्लेशों से क्लेशित करता है; वही शुद्ध चैतन्य देव है जो राग-द्वेषादि दोषों से विमुक्त है, वह संसार समुद्र से पार हुआ समझा जाता है॥ १॥

श्लोः—तदा बन्धो यदाचित्तं सक्तं का स्वपि दृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदाचित्त मसक्तं सर्व दृष्टिषु॥ १॥
(अ० गी० प्र० ८।३)

टीः—जिसका चित्त आत्म भिन्न किसी भी जड़ पदार्थ के विषें आसक्त होता है, तब ही जीव का बन्ध होता है और जब चित्त आत्म भिन्न सम्पूर्ण जड पदार्थों के विषें आसक्ति रहित होता है तब ही जीव का मोक्ष होता है॥ १॥

शान्ति-गत बन्धन सदाही, मोक्ष दानि प्रशान्ति है।
अनुभवी जन जानहीं, जेहि शान्ति की उर कान्ति है ॥३४३॥
भवति-तेज [१]प्रगाढ़ बन्धन, विकट काल कराल हैं।
तेहि दर्प में सकलो सुरासुर, सतत-रहत-विहाल हैं ॥
तेज-त्याग-विमोक्ष-पावन, हंस होत-निहाल है।
दर्प-हीन अधीन स्वेच्छित, मुदित शान्ति विशाल है ॥३४४॥
मन सहित ज्ञानेन्द्रीय पंच, स्वच्छन्द बन्धन जानिये।
मन सहित हों स्वाधीन[२] इन्द्रिय, मुक्ति परमा मानिये ॥
बन्ध द्वन्द्वाचार[३] है, निर्बन्ध द्वन्द्व विनाशनम्।
भव-द्वन्द्व ही सब कष्ट प्रद, निर्द्वन्द्व कष्ट प्रहारनम् ॥३४५॥

---

१ भजन—सकल तेज तजि होय नपुंसक, यह मत सुन ले मेरी। जीवन मृतक दसा विचारै, पावै वस्तु घनेरी ॥ याके परे और कछु नाहीं, यह मत सबसे पूरा ॥ कहहिं कबीर मान मन चंचल, हो रह जैसे धूरा ॥

(शब्दामृत सिं०)

"मृतक भाव विचार गुरु गम, काल कष्ट निवारिये" (अनुराग सागर)

२ श्लोः—यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम् ॥ १ ॥

(कठो० अ० २। व० ६। मं० १०)

टीः—जब शुद्ध मन युक्त पांच ज्ञानेन्द्रियाँ जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है उसको परम गति अर्थात्—मोक्ष कहते हैं ॥ १ ॥

३ श्लोः—निर्बन्धं तस्यात् ज्ञात्वा विचिन्त्यानक दुन्दुभिः ॥"

(भागवत्)

टीः—निर्बन्ध वह है कि जिसको किसी प्रकार की चिन्ता और कोई तरह का द्वन्द्व (झंझट) नहीं है अर्थात् सांसारिक चिन्ता तथा द्वन्द्वाचार (झंझट) ही बन्धन है ॥ १ ॥

भ्रान्त ज्ञानहिं विषम पाशी, शुद्ध ज्ञान विमोक्ष है।
भ्रान्ति ही भव-भीति आकर, ज्ञान सुख-द प्रत्यक्ष है॥
प्रवृत्ति-मोह [1]कुपाश दृढ़, निवृत्ति मोक्ष स्वरूप है।
प्रवृत्ति सकलो पाप मय, निवृत्ति सुख-स्व अनूप है॥३४६॥
शील हीन महान बन्धन, शील मोक्ष अमान है।
सम्पदा तिहुँ लोकनों की[2], शील मध्य स्थान है॥
कामना-रत प्रोढ़ बन्धन, मोक्ष शुचि निष्काम है।
मोक्ष सुख दातार का, निष्काम में विश्राम है॥३४७॥

साखी०—निर्पच्छी को भक्ति है, निर्मोही को ज्ञान।
निर्द्वन्द्वी को मुक्ति है, निर्लोभी निर्वान॥ १॥
(सा० ग्रं०)

दो०—मुक्ति नहीं आकाश में, मुक्ति नहीं पाताल।
जब मन की मनसा मिटै, तब ही मुक्ति विशाल॥ १॥

साः—मन की मनसा मिट गई, अहं गई सब छूट।
दोनों का मरना भया, काल रहै सिर कूट॥ १॥

१ दोः—सब सुख रूप अनूप है, निरालम्ब निर्वृत्ति।
सब दुःख आकर भ्रान्ति मय, पाप प्रदानि प्रवृत्ति॥ १॥

२ सा०—सील, क्षमा जब उपजे, अलख दृष्टि तब होय।
बिना सील पहुँचै नहीं, लाख कथै जो कोय॥ १॥
सीलवन्त सब से बड़ा, सब रतनों की खान।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आन॥ २॥
ज्ञानी, ध्यानी, संजमी, दाता सूर अनेक।
जपिया-तपिया बहुत हैं, सीलवन्त कोइ एक॥ ३॥
सुख का सागर सील है, कोई न पावै थाह।
शब्द बिना साधू नहीं, द्रव्य बिना नहि साह॥ ४॥
(साखी ग्रन्थ सील का अंग)

सर्व बन्धन मूल-मोह, अमोह मोक्ष प्रधान हैं।
या में नहीं सन्देह कछु, निर्मोह पुरुष अमान हैं॥
मोह ही सब पाप कारण, पाप-फल त्रियताप हैं।
इस हेतु मोह समूल नाशक, सत्य समर्थ आप हैं॥३४८॥

इस प्रकार अनन्त बन्धन, मोक्ष अगिणित ख्यात हैं।
इतिहास आगम-निगम में, सब सज्जनों को ज्ञात हैं॥
या में न बाद विवाद कछु, मत-भेद भीन प्रमाद हैं।
निर्पक्ष सज्जन जानहीं, निःस्वार्थ-विगत-विषाद हैं॥३४९॥

द्वैत नहिं अद्वैत नहिं, न वाद द्वैता द्वैत का।
सिद्धान्त सर्वो मान्य यह, अभ्रान्त-चित् अद्वैत का॥
कल्याण दायक सर्व का, जो जानिहैं-सो मानिहैं।
अज्ञानि-दीर्घ-सूत्री विषादी, विषमता-मत् मानिहैं॥३५०॥

युक्तात्मा संसार में, रहते हुए भी भिन्न हैं।
स्वप्नवत् संसार लखि, सत् प्रेम उर अवच्छिन्न हैं॥
नवनीत दधि से प्रकट हो, कर-छाछ में तरता यथा।
निर्लेप होकर-विस्व से, शुचि-सन्त विचरत हैं तथा॥३५१॥

माया मयी परपंच सारा, दृश्य सकल अदृश्य है।
अज्ञानता से भासता, मृग-तृष्ण का सदृश्य है॥
इस हेतु प्रीति-प्रतीत गत, सब सन्त वर्तत हैं सदा।
रहते हुए तक विश्व में, हैं पालते भव-मर्यदा॥३५२॥

काम नहिं धन धाम से, न बाम सुत की कामना।
निर्भय सदा संग्राम में, करें-काल से नित सामना॥
नहिं आश रखते अपर की, पर आश पाशी है महा।
निश्चल अचिन्त सुभाव से, प्रकृति पर विजयी महा॥३५३॥

यथा कंज निवास जल में, रहन सदा अलिप्त है।
तथा सन्त अलिप्त जग से, सुयश तेज प्रदिप्त है॥

सत्य-रवि से-प्रेम-नित-नव, रहत सम्मुख-नित्य के।
शान्त शहजानन्द-रत, उप राम भाव अनित्य के ॥३५४॥
यथा अम्बर धूम्र से, निर्लेप रहता सर्वदा।
तथा सन्त अलीन जग से, सदा रक्षत मर्यदा ॥
यथा अचला अचल रहि कर, भार धरती सृष्टि को।
तथा सज्जन वृन्द अविचल, धारही सम-दृष्टि को ॥३५५॥
सन्त इमि संसार में, दुखते न अपर दुखावते।
पत्र-पुष्पन [१]छेडहीं, युग वृक्ष में सुख पावते ॥
यथा नभ-खग-मग न रोकै, नभग-विचरहिं गगन में।
तथा इस संसार में, शुचि सन्त[२] विचरहिं मगन में ॥३५६॥

---

१ सा०—साधू जन ऐसे रहे, दुखे-दुखावे नाहिं।
पान-फूल छेड़े नहीं, बसे बगीचे माहिं ॥ १ ॥
साधू जन सब में रमें, दुख न काहू देहि।
अपने मत गाढ़ा रहै, साधन का मत येहि ॥ २ ॥
(सा० ग्रं० साधु० ६५।८६)

२ शब्द (भजन) साधू यों संसार में, कमला जल माहीं, सदा सर्वदा संग रहे, जल परसत नाहीं ॥ टे० ॥ जुगत जान जल कूकरी, जल मध्य रहाई, पानी पंख न लागई, कछु कसरत पाई ॥ मीन रहे जल ऊपरे, कछु लगत न भारा ॥ आड़ अटक माने नहीं, पैरे जल सारा ॥ जुगत जमूरा पाइया, के सरपे लपटाई, वाको विष-व्यापे नहीं, गुरु गम्य वताई खीर खांड़ घृत भोजना, कर सो लपटाई। जिभ्या को लागे नहीं, वाकी चिकनाई ॥ भगल कला नट खेलई, घर न्यारा न्यारा, खण्ड विहंडल हो रहे, ज्यों का त्यों सारा ॥ जैसे सीप समुद्र में, चित्त धरत अकासा। ऐसे पपीहा स्वाति को, नित प्यासा-प्यासा ॥ कुञ्ज ग्रह का संचरे, वाको रखवारा। भौं में गलते राखिया, ऐसे गुरु हमारा। बम्बी में विषधर बसे, कोई पकर न पावें, कहैं कबीर गुरु मन्त्र सो, सहजे चलि आवे ॥ १ ॥
(शब्दामृत-सिन्धु)

यथा जल की कुक्कुटी, रमती सदा ही नीर में।
युक्ति ऐसी जानती, नहिं जल स्पर्श-शरीर में॥
तथा सन्त प्रवीन-भव जल, मध्य में निर्लेपही।
भव-भोग भी भोगैं सदा, पर-शान्त चित्त अलेपहीं॥३५७॥
मीन-नीचे उपर्जल, कछु भार वाको हो नहीं।
पौरे सदा ही नीर में, जल ताहि कहुँ रोकै नहीं॥
तथा सन्त नदीश जग में, भ्रान्ति-भार विही नहीं।
विघ्न हीन-स्वतंत्र सन्तत्, मग्न-मन विहरैं कहीं॥३५८॥
उरग ज्यों श्रिखण्ड में, लपटे हुए रहते सदा।
श्रीखंड विष व्यापे नहीं, हो उरग शीतल गत् मदा॥
त्यों सर्पवत्-संसार पीड़ित, जीव लपटे सन्त में।
श्रीखंड पाकर सन्त को, वे शान्ति पावें अन्त में॥३५९॥

खीर खांड घृत आदि भोजन, लपटहीं कर में सभी।
भोगे रसज्ञा भोग तेहि, चिकनायि नाहिं व्यापे कभी॥
तथा प्राप्त स भोग सज्जन, वृन्द संतत भोगहीं।
प्रार्ब्ध के अनुकूल, गमनाऽगमन से नैरोग्यहीं॥३६०॥
यथा नीर मलीन ले, बहु आपगा दधि में मिलें।
सागर सदा निर्मल रहे, न गन्द-जल से हिल मिलें॥
तथा सन्त असंग संतत्, अघ समूलहिं दल-मलें।
ज्ञान ध्यान विराग्य योग, विवेक आदी अविचलें॥३६१॥
यथा नट लीला विविधि-विधि, प्रकट ही दिखलावई।
शिर काटि धड़ से-भिन्न करि, फिर शीघ्र [१]धड़हिं मिलावई॥
तथा-विश्व प्रपंच नटवत्, सुजन जन सब जानहीं।
हर्ष-शोक विहीन सन्तत्, सर्व मिथ्या मानहीं॥३६२॥
यथा सीपि समुद्र में, चित् स्वाति जल में राखहीं।

---

१ चौः—वाजीगर नहिं होवहिं बीरा। निज कर काटैं सकल शरीरा॥

प्यासे रहैं बिनु स्वाति के, दधि नीर [1]बिन्दुन चाखहीं ॥
तथा सन्त भवाब्धि में, चित्-स्वाति-सत् में राखहीं ।
चाहे अमित संकट पड़ें, न-विषय-दधि जल चाखहीं ॥३६३॥
यथा चात्रिक स्वाति जल हित्, सदा पियु ध्वनिध्ये वहीं ।
चाहे मरे वह प्यास बस, सुर-सरिहुँ जल नहिं लेवहीं ॥
तथा सन्त स्टेक पालक, सदा सत् ध्वनि लावहीं ।
चाहे नशयँ-पल एक में, पर-विषय-जलहिं न ध्यावहीं ॥३६४॥
मन की रचित रचना [2]सकल् शुचि संत गण ये जानहीं ।
इस हेतु प्रीति-प्रतीति गत् , कल्पित-फला पहचानहीं ॥
स्वात्म का प्रतिबिम्ब मन, प्रति-बिम्ब गत संसार है ।
इस हेतु-नभ-छाया सरिस, व्यवहार सर्व असार है ॥३६५॥
बांवि में विष धर वसैं, तेहि पकड़ि कोउ पावै नहीं ।
गुरु[3] मंत्र वस तत्क्षण उसे, विनु आय रहि जात्रे नहीं ॥
तथा विवर शरीर में, मन-महा उरग निवास है ।
सुजन सद्गुरु मंत्र प्रेरक, शीघ्र-मन तिन्ह दास है ॥३६६॥
स्वाधीन जब मन होय, तब सह मूल सब बन्धन नसे ।
स्वतः बोध अनन्त-रवि हो, उदय भ्रम-तम को ग्रसे ॥
श्रम हीन सकल उपाधि गत, गमनाऽगम तब नष्ट हो ।
सब साधना की सफलता, स्व-स्वात्म् सिद्धि स्पष्ट हो ॥३६७॥

---

१ साः—पडा पपीहा सुरसरी, लगा बधिक का बान ।
मुख मूँदे सुरति गगन में, निकलि गया यों प्रान ॥ १ ॥
(सा. ग्रं.

२ दोः—मन उन्मेष जगत बने, बिन उनमेष नसाय ।
कहो जगत कित संभवे, मनहीं जहाँ विलाय ॥ १ ॥
(विचारमाला)

३ पदः—बाँबी में विषधर बसे, कोइ पकड़ि न पावै, कहैं कबीर गुरु मंत्र से, सहजे चलि आवै ॥" (शब्दामृत-सिन्धु)

धर्म्मदास-सद्गुरु पद परे, कहे धन्य ! धन्य ! कृपालु हो ! ।
निज-कृपा पात्र बनायऊ, मोहिं-धन्य ! धन्य ! दयालु हो ! ।।
मम पूर्व पुण्य अनन्त याते, पद्म पद तव पायऊँ ।
बिनु श्रमहीं संशय शमन, त्रय-ताप-पाप नशायऊँ ।।३६८।।
हे विश्व-वन्धु ! अनन्त महिमा, स्व संवेद प्रकाशकम् ।
स्वतः सिद्ध अनादि समर्थ !, अगम-गम्य विभासकम् ।।
पतित-पावन ! दीन वत्सल !, सहज बोध विकाशकम् ।
काल कलाकराल कल्पित्, निमिष माहिं निकाशकम् ।।३६९।।
प्र०—जिन एक के जाने बिना, सब जानकारी व्यर्थ है ? ।
साधन सकल निष्फल तथा, कर्तव्य सकल अनर्थ है ? ।।
समझाइये करुणा रणव !, जो सज्जनों को मान हो ।
जिन-पद्म-पद ध्याये बिना, न प्राप्त मोक्षद ज्ञान हो ।।३७०।।
जड़ता-विवस जो कछु कह्यो, करिये क्षमा शिशु जान के ।
अल्पज्ञता मम सेव्यिका, अनुचर बना हूं मान के ।।
याते बिविध शंका करूँ, समझूँ न सूक्ष्म ज्ञान को ।
अन्तः करण अति चपलता, चित्-चकित वस अभिमान को ।।३७१।।
उ०—सद्गुरु कवीर कृपालु कहें, तूं सुकृत ! सहज सुजान हो ।
ज्ञान ध्यान विवेक मय, सत् शील आदि निधान हो ।।
भ्रान्ति श्रान्ति अघौघ छेदक, विगत मान्पमान हो ।
पर-हितोक्ति शंका तुम्हारी, हनत-तम अभिमान हो ।।३७२।।
सुनो ! परम पुनीत सेव्य, त्रिकाल-त्रिभुवन एक जो ।
जिन-कंज-पद सेवन बिना, सब व्यर्थ धर्म्म सुटेक जो ।।
"सद्गुरु"[१] सुसेव्य समान्य सबको, निर्विवाद त्रिकाल में ।

---

१ सा:—निर्विवाद गुरुदेव इक, सवको मान्य समान ।
और कहौं तक नास्तिक हूँ, मानत ईस महान ।। १ ।।
(ज्ञानदीपक)

दायक विशुद्ध विमोक्ष अविचल, हंस रक्षक जाल में ॥३७३॥
जे हंस सद् गुरु शरण में, तेहि कल्पना व्यापे नहीं।
दास भाव स्व-काल हो, त्रिय ताप से तापे नहीं॥
सद् गुरु प्रताप बलिष्ठ हंस, कराल काल निपातहीं।
हो सत्य की जय सर्वदा, सब श्रुति जग विख्यातहीं[1] ॥३७४॥
सद्गुरु कमल-पद-त्राण तजि, जे अपर की आशा करैं।
तीन काल त्रिलोक में, सो अवशि भव-दधि में परैं॥
क्योंकि अलख परमात्मा, सब-विश्व की रचना करी।
अष्टांगिनी अर्द्धांगिनी, विश्वेश्व की जिव वस करी ॥३७५॥
फिर अपर को रक्षक है ?. भयभीत सब जगदीश से।
त्रैलोक जिव अनुचर सबे, सम्मुख न हो परमीश से॥
परमेश सद् गुरु-देव के, स्वाधीन रहते हैं सदा।
क्योंकी ? त्रिलोक-त्रिकाल में, सद् गुरुहिं रक्षत्मर्यदा ॥ ३७६॥
मर्यदा रक्षक पुरुष के, बस में सदा परमात्मा।
स्वयं सो मर्य्यदा मय, है नित्य निश्चय स्वात्मा॥
मर्य्यदा तजि अल्पज्ञ हो, जिव भ्रमता भव-में सदा।
मृत्यु लोक स्वर्ग पताल में, सहता अनन्तन आपदा ॥३७७॥
"गुरू"[2] शब्द से सिद्ध होती, अगुण-सगुण उपासना।
गुग से विलक्षण परम शुद्ध, प्रशान्त जो निर्वाच्यना॥
"सद्" शब्द से हों सिद्ध "सद् गुरु", सहज स्वयं विकाशना।
अचल अनुभव गम्य अद्भुत, मोक्ष प्रद निर्वासना ॥३७८॥
सगुण-अगुण स्वरूप बोधक, स्वयं सबसे न्यार हैं।
निर्भेद भी सबसे सदा ही, मोक्ष प्रद निर्धार हैं॥
को कहि सकै उत्कर्षता ?, आराध्य सर्वाधार हैं।
जिनके चरण सेवन बिना, कर्तव्य सकल असार हैं ॥३७९॥

---

१ "सत्यात् जयते" (श्रुति)

२ पृ. १३ की टि० श्लोः ३ श्लोकतन्त्र देखिये ॥

क्योंकी न गमनाऽगमन छूटै, बिना "सद्गुरु" पद गहें।
इतिहास वेद पुराण स्मृति, सन्त कवि कोविद कहें॥
योगी यती ऋषि मुनि तपी, सिद्धादि "गुरु" आश्रित रहें।
पालहिं सकल कर्तव्य अपना, तदपि गुरु करुणा चहें॥३८०॥

करुणा कटाक्ष कृपालु "सद्गुरु", देव बिनु मिथ्या सभी।
कर्तव्य की तब सफलता, गुरुदेव की करुणा जभी॥
त्रियदेव[1] शेष गणेश शारद, भानु-शशि आदिक घने।
सब कुशल निज-निज कार्य में, गुरुदेव सेवन करि मने॥३८१॥

कोइ लोक कारय हो नहीं, गुरुदेव की करुणा बिना।
परलोक की क्या वार्ता ?, अगिणित कु व्याधि-न जागिना॥
लोक या परलोक में, शुचि मार्ग पर दर्शक यही।
विश्व-बन्धु कृपालु "सद्गुरु", देवकी करुणा सही॥३८२॥

सानुकूल जो होहिं सद्गुरु, विघ्न कोउ व्यापे नहीं।
सब ही अमंगल होहिं मंगल, ताप त्रय तापे नहीं॥
पयधि की इक लहरि में, दारिद्रता सब दूर हो।
अंधकार-न रहि[2] सके, जब उदय प्राची सूर हो॥३८३॥

---

१ श्लोः—गुरु कृपा प्रसादेन ब्रह्म विष्णु सदाशिवाः।
सृष्ट्यादिक समर्थास्ते केवलं गुरु सेवया॥ १॥

टीः—ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीनों देवता केवल एकमात्र श्री गुरु देव की कृपा से ही और गुरु सेवा के फल से ही सृष्टि पालन और प्रलय क्रिया करने में समर्थ हुए हैं॥ १॥ (सा. गी. १६४)

२—"सानुकूल सद्गुरु जब होते, सभी विघ्न हट जाते हैं।
सभी असंभव संभव होते, सहज कार्य बन जाते हैं॥
रत्नाकर की एक लहर से, होता है दारिद्रय विदूर।
अन्धकार रहने कब पाता, जब उगता है प्राचीसूर॥ १॥

इस लोक या पर लोक में, सानन्द अचल अखंड हो।
कल्पना गत काल की, "चैतन्य" शान्त अदंड हो ॥
सद्गुरु प्रभाव असीम अनुभव, गम्य किमि कोउ जानहीं ? ।
सद्गुरु कृपा से दिव्य[1] दृष्टि, विवेकि जन पहिचान हीं ॥३८४॥

ध्यान[2] मूल स्वरूप गुरु मूलर्चना गुरु पाद ही।
मोक्ष मुल गुरु की कृपा, सब मन्त्र मुल गुरु वाद ही ॥
निर्विवाद सिद्धान्त यह, गुरु देव में सब देव ही।
फिर क्यों न ? ध्यानरु अर्चना, गति मंत्र हो गुरु सेवही ॥३८५॥

दुर्लभ सकल[3] विषयन तजन दुर्लभ्य तत्त्व प्रदर्शनम्।
दुर्लभ अहै सहजा अवस्था, परम-पावन दर्शनम् ॥
सद्गुरु की करुणा बिना, उपरोक्त लाभ न स्वप्न में।
परयत्न कर कर के थके, न सफलता हो तप्न में ॥३८६॥

---

१ चौ०—श्री गुरुपद नख मणि गण ज्योति।
स्मरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥ १ ॥ (रा. बा.)

दोः—हृदय दृष्टि निर्वाण जब, गुरु सरोज पद लीन।
द्रवैं काम मोहादि सब, जब गुरु दाया कीन ॥ १ ॥
(ज्ञा. सं.)

२ श्लोः—ध्यान मूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्ष मूलं गुरोः कृपा ॥ १ ॥
(गु. गी. १६.)

टीः—गुरुमूर्त्ति ध्यान ही सब ध्यानों का मूल है, गुरु के चरण कमल की पूजा ही सब पूजाओं का मूल है, गुरु वाक्य ही सब मन्त्रों का मूल और गुरु की कृपा ही मुक्ति प्राप्त करने का प्रधान कारण है ॥ १ ॥
(गु. गी. १६०)

३ पृ. १८ श्लोक १ देखिये।

सम्मत् सकल[१] श्रुति सन्त के, अति युक्ति मन मानी नहीं।
कल्याण प्रद सद्गुरु सही, निर्पक्ष अनुमानी नहीं।।
सार शब्द[२] विवेक तत्त्व प्रदानि भ्रम-खानी नहीं।
सद्गुरु कृपा भव-भ्रान्ति छेदनि, विदित मन मानीनहीं ।।३८७।।

यथा भृंग ले[३] कीट को निज सरिस करहिं स्वभावसों।
तथा सद्गुरु शिष्य गण को, सद्य पर्लाट प्रभाव सों।।
करहिं निज-सम-शील धीर गंभीर, विगत प्रमाद सों।
ज्ञान ध्यान विवेक समिता, सहित-रहित विषाद सों ।।३८८।।
शान्ति शील विचार मुदिता, धर्म-निष्ठ अराग सों।
दया क्षमा अदम्भ मदगत, प्रेम निर्यम से पाग सो।।
मल विक्षेप आवरण गत शुचि, सत्य युक्त विराग सो।
शम दम तितिक्षा आदि, पर-उपकार रत नित जाग सो ।।३८९।।

---

१ श्लोः—सद्गुरु कृपया लभ्यं ज्ञानं सर्वस्वमात्मनः।

(नारद गीता २)

टीका—सद्गुरु की कृपा से पुरुष को आत्मका सम्पूर्ण धनरूप ज्ञान मिलता है ॥ १ ॥

२—'सारशब्द से बांची हो, मानो इत बारा हो ॥ (बी०)

३ श्लोक—भृङ्गी भवन्तीह यथैव कीटाः। ध्याने न भृङ्गस्य गुरोस्त-थैव ॥ तत्तुल्यरूपाश्च भवन्ति शिष्याः। सद्गुरुं तं मनसा स्मरामि ॥ १ ॥

(भ० पु० ६।१७)

टीका—जैसे इस संसार में कीट भृङ्ग के ध्यान से भृङ्गस्वरूप हो जाते हैं ठीक उसी तरह श्रीसद्गुरु के ध्यान से शिष्य वर्ग भी गुरु रूप हो जाते हैं। उन श्रीसद्गुरु को मैं मन से स्मरण करता हूँ ॥ १ ॥

"रेखता—कीट को ले उठा भृङ्गी, किया यद आप सारंगी ॥ गहे जो सत्य की वानी, हंस हो चले निर्वानी। कबीर गुरु तालवा तेरा। क्रिया दिल बीच में डेरा ॥ १ ॥

दारुण अविद्या पंच जनित, विकार विगत स्वच्छन्द हो।
अज्ञान त्रिविध अशेष, लेश क्लेश नहिं निर्द्वन्द्व हो॥
अहंकार समूल शूल, विनष्ट विषय निकन्द हो।
त्रिविध ताप-उच्छेद-खेद, प्रछेद हंस अभेद हो॥३९०॥
महत्तत्त्व विकट अव्यक्त माया, निविड-तम भासक बने।
दुर्वासना प्रवृत्ति दल, मोहादि को शाशक बने॥
प्रवल काल त्रिलोक ध्वंशक, वाहु को नाशक बनी।
सद्गुरु कृपा के पात्रमें, इमि विविधि-विधि प्रतिभा घनी॥३९१॥
त्रियलोक-पावनि करनि हेतु, विशुद्ध शक्ति अनन्त हैं।
दीन हीन मलीन परम, अनाथ जन को कन्त हैं॥
स्वाधीन तदपि विलीन, सद्गुरु पाद-पंकज में सदा।
शुभ्र परम प्रवीन वर, रक्षक स्व धर्म्म कि मर्यदा॥३९२॥
इस हेतु 'सद्गुरु" देव में, सिद्धान्त सब समर्थ है।
इन एक के ध्याये बिना, साधन समस्तहि व्यर्थ है॥
क्योंकि न "गमनाऽगमन" की निवृत्ति तीनों काल में।
ब्रह्मादि[1] को सेवन किये भी, जीव सतत् विहाल में॥३९३॥
है हेतु जग का ब्रह्म ही, क्यों-विश्व का ध्वंशक बनें।
अपर देव की लेख क्या?, सब ब्रह्म चक्रहिं में घनें॥
अपर को हो मोक्ष प्रद?, जो स्वयं बन्धन में परे।
ब्रह्म माया भ्रान्ति प्रद, सब लोक को बन्धन करे॥३९४॥

---

१ सा०—ब्रह्महिं से जग ऊपजे, कहत सयाने लोग।
ताहि ब्रह्म त्यागे विना, जगत न त्यागन जोग॥ १॥
(सा० प्र०)

"हरि व्यापक सर्वत्रसमाना" (रा० बा०)

श्लोक—न प्रत्यग्ब्रह्मणो भेदं कदापि ब्रह्म सर्गयोः।"

टीका—प्रत्यक्ष सर्वव्यापक ब्रह्म से और ब्रह्म की सृष्टि से कभी-भी भेद नहीं है॥ १॥ (विवेक चूडामणि)

शब्दामृत् श्रवण-पुट पान करि, सद्गुरु चरण सुकृत परे ।
प्रेम मय गद्-गद् गिरा, करि [1]स्तुति अपलोचन भरे ॥
धन्य ! धन्य ! कृपानिधे !, करि कृपा मम आरति हरे ।
निज कृपा पात्र बनाय मोहिं, शुचि बोध दरशाये खरे ॥३९५॥

लवलीन दीन अधीन चरणन, पीन हो सद्बोध सो ।
अघ छीन हीन मलीनता, सुशान्ति हो निःक्रोध सो ॥
अज्ञानता सब दूर हो परिपूर स्वात्म् सुबोध सो ।
मल विक्षेप आवर्ण हो, निर्मूल स्वात्म शोध सो ॥३९६॥

---

१ भजन—जय जय सतगुरु सत्यकवीर सन्तन सुखकारी ॥ टे० ॥ कमल पत्र पर अनूप, लीला करिधारि रूप । प्रगटे जग हंस भूप अजर-निर्विकारी ॥ मंगलमय सिद्ध[1]सदन दिव्य शर्वरीश[2] वदन[3] वारों[4] लखि कोटि मदन, बालब्रह्मचारी ॥ शोभित मुद्रा विशाल, शुभ्र[5] सरल[6] तिलक भाल, भूषित उर रत्न, माल, शीश मुकुटधारी ॥ गावत गुणसुर अशेष, नारद शारद[7] गणेश, कमलासन[8] अरु महेश[9], दै दैकर तारी ॥ पारिजात तरुण परण, के समान, अरुण चरण, शरण आय धर्म्मदास, तन मन धनवारी ॥ १ ॥ जय कवीरधीर वीर हरण पीर रे । देखि काम क्रोध आदि प्रवल रिपु[10] डरे ॥ टे० ॥ अति अपार भवविकार धार में परे । हीन[11] दीन[12], छीन[13] जीव पार वहु करे ॥ जासु वचन ज्ञान भानु लखि विकाशरे[14] । उदय भोर जानि चोर मान मद टरे ॥ जागे शम दम विराग आदि योग रे । परम धरम जानि जाहि साधु आदरे ॥ दीन-वन्धु दया-सिन्धु जासु नाम रे । मोद धाम विगत काम सन्त आदरे । धर्मदास जास त्राश काल विकल रे । ऐसो श्रीगुरु प्रताप मंगला चरे[15] ॥ २ ॥ (क० मं०)

---

१ सिद्धि का स्थान, २ चन्द्रमा, ३ मुख, ४ निछावर करना, ५ श्वेत, ६ सीधा, ७ सरस्वति, ८ ब्रह्मा, ९ महादेव, १० शत्रु, ११ त्यागा हुआ, १२ दरिद्री, १३ दुर्बल, १४ प्रकाश, १५ सत्कार किया ।

हे दीन-वत्सल ! पतित-पावन !, भ्रान्ति भव-दधि तारणम् ।
काम क्रोध कराल भट, मोहादि शत्रु संहारणम् ॥
हे विश्व-बन्धु ! विश्वेश्व रक्षक ! सर्व विश्व उधारणम् ।
महिमा अखंड अनन्त अद्भुत, शोक सन्धि विदारणम् ॥३९७॥
हे अनन्त ! अनादि ! समर्थ !, अगम-गम्य प्रदायकम् ।
धीर वीर गम्भीर अविचल, सर्व हंसन नायकम् ॥
हे शुभ्र ! शान्त स्वरूप अनुपम्, सतत् निर्भय दायकम् ।
काल कवलित दुर्वल जन को, सबल करन सहायकम् ॥३९८॥
करुणारणव ! करुणा तुम्हारि, भवाब्धि में यक सेतु है ।
तीन काल त्रिलोक में, नहिं अपर कोउ हित हेतु है ॥
और सब ही स्वारथी, पर्मार्थ प्रद हरि लेतु है ।
भीमाश-तृष्णा डाकिनी, उत्कृष्ट-कष्टहिं देतु है ॥३९९॥
है प्रत्यक्ष विमोक्ष प्रद, करुणा कटाक्ष कृपाल की ।
शमन करि सब आपदा, रेखा मिटाती भाल की ॥
तथा करुणा ही मिटाती, विषमता-भ्रम-व्याल की ।
यही तव करुणाहि अवधि, विशुद्ध बोध विशाल की ॥४००॥
इस हेतु करुणा ख्याति है, करती परीक्षा जाल की ।
परखावती है अपर को, शंका मिटाती ख्याल की ॥
विशद कृति असीम है, मूरति धरी सत् माल की ।
करुणा कटाक्ष के पात्र बिनु, को हने चिन्ता काल की ॥४०१॥
प्रबल काल प्रताप ज्वाल, विशाल नाशक सर्व का ।
जंगम् स्थावर जीवनों के, है विनष्टक गर्व का ॥
सद्‌गुरु कृपा अवलोकते ही, मृतक हो तत्काल में ।
इस हेतु करुणा पात्र बनि, हों मुक्त हंस त्रिकाल में ॥४०२॥
हे सद्‌गुरो ! भव-भीति अन्तक, काल हन्तक आप हैं ।
करुणा कटाक्ष विलोकिये; मुझ मध्य दोष अमाप हैं ॥
सत्य कहता हूं प्रभो ! मोहिं आप ही अवलम्ब हैं ।

अपर की आशा नहीं, मम आप अनुभव गम्य हैं ।।४०३।।
हे विश्वेश्वर ! विश्व पालक, सत्य शिक्षक आप हैं ।
सदाचार प्रचार करके, सदय हनत त्रिताप हैं ।।
हे त्रिलोक पुनीत कारक, हरत सकलो पाप हैं ।
क्षमा शील विनीत प्रद, सह मूल नष्टक पाप हैं ।।२०४।।
जय कबीर प्रधीर वीर, गम्भीर भव-दधि तारणम् ।
चौरासी लक्ष विशाल धारहिं, बुड़त अधम उधारणम् ।।
विदित-विशद विशेष यश है, सदल काल विदारणम् ।
विमल बोध स्व ध्यानप्रद वर, भक्ति[१]-मुक्ति उदारणम् ।।४०५।।
दीन लीन मलीन मानश, हीन जनहिं सुधारणम् ।
स्वच्छ अन्तःकरण करि, दुर्बोध-तमहिं निवारणम् ।।
स्वपरीक्षा के प्रदर्शक, अहंकार प्रहारणम् ।
व्याप दाप अमाप ताप, समूल दर्प संहारणम् ।।४०६।।
नीर क्षीर विभाग कर्ता, विश्व यथा मराल हैं ।
तथा तव-जन करत निर्णय, सद ऽसद् जग जाल हैं ।।
विश्व ख्यात विहाल कारक, ख्याल बिगत कृपाल हैं ।
आप तत्त्व अतत्त्व दर्शक, हंस करत निहाल हैं ।।४०७।।
जयति स्वतः अनादि सिद्ध, प्रसिद्ध विश्व-विकाशकम् ।
अविगति अखंड अनन्त रूप, अनूप सहज प्रकाशकम् ।।
अगिणित दिनेश निशेश, तव इक रोम तुल्य न भासकम् ।
प्रणमामि त्व चरणार विन्दम्, स्व-स्वरूप प्रकाशकम् ।।४०८।।
अन्तःकरण-तम-तमा नाशक, त्रिजग कोउ न समर्थ है ।
प्रभु चरण-नख-द्युति ध्यावते, तम-तमा होती व्यर्थ है ।।

---

१ श्लोक—भुक्ति-मुक्ति प्रदाता च तस्मै श्रीगुरवे नमः' ।।

(गु० गी० १५४)

टीका—भोग और मोक्ष प्रदान करने में समर्थ हैं, ऐसे श्रीगुरुदेव को नमस्कार है ।।

को प्रकाशक विश्व ऐसा ?, जो हरै तम-मूल को ? ।
कर दे अशोक सजीवनों को ?, शमन करि त्रैशूल को ॥४०९॥
घटाटोप विडम्बनों के, वहु प्रकाशक विश्व में ।
अन्तःकरण-तम-ध्वंश करनी, शक्ति नहीं अनीश में ॥
अपर की क्या वारता ?, यह शान्ति नहिं जगदीश में ।
क्यों की-रचित् परमेश के जिव, भ्रमत् भवति नदीश में ॥४१०॥
सद्गुरु चरण नख-द्युतिहिं ध्यावत, खुलहिं दिव्य विलोचनम् ।
स्व प्रकाश असीम-निशि गत, काल कष्ट विमोचनम् ॥
भ्रान्त-भेद समस्त नष्ट-विनष्ट, अघ भव शोचनम् ।
शुद्ध सत्य समक्ष होतहिं, हंस होहिं अशोचनम् ॥४११॥
हे तमोघ्न ! हे पतित-पावनि, आप की पद रेणुका ।
करती विशुद्ध त्रिलोक को, साक्षात् कामद धेनुका ॥
या के असीम प्रभाव से, प्रकृति हो ज्यों मृत्तिका ।
सहचारिणी सब सज्जनों की, होति-पद की भृत्तिका ॥४१२॥
प्रवृत्ति होति अशेश लेश, क्लेश रह सकता नहीं ।
चरण-रज-रत जन सदा, स्वानन्द मय विचरैं कहीं ॥
अविचल स्मृति स्वरूप की, विस्मृतिता होती नहीं ।
निवृत्ति स्थिर प्रकाश मय, हो-तम-तमा की गम नहीं ॥४१३॥
हे प्रबुद्ध ! विशुद्ध ! सद्गुरु !, दीन-रक्षक सर्वदा ।
सर्व ध्येय अनूप रूप, अखण्ड पालक मर्यदा ॥
हे अनन्त ! त्रिलोक कन्त !, भनन्त यश-श्रुति सर्वदा ।
आप ही सब लोक में, सब काल केवल धर्म्मदा ॥४१४॥
हे समक्ष स्वरूप कारक !, भ्रान्त-भेद निकन्दनम् ।
खेद कल्पित् कल्पना हनि, हंस करत स्वच्छन्दनम् ॥
अमित विग्रह-विग्रहों में, होत नित नव द्वन्द्वनम् ।
आप के दृग पाल खुलते, सर्व विघ्न निकन्दनम् ॥४१५॥
धर्म्म धीर गम्भीर निश्चल, होहिं जिन्हके विग्रहम् ।

प्रभु चरण रज अधिकारि ते, करें सदा मन को निग्रहम् ॥
प्रेम-पात्र मलीनता गत, शुद्ध क्रिय करि संग्रहम् ।
होहिं-तारण-तरण ते, भव-सिन्धु के गत विग्रहम् ॥४१६॥
हे समक्ष विमोक्ष प्रद !, कोउ दक्ष नहिं सम लक्ष्य में ।
असद पक्ष अमूल करि, हौ राजते निर्पक्ष में ॥
आश पाशि निवृत्ति करि, निर्बन्ध करत प्रत्यक्ष में ।
प्रोक्ष-मोक्ष कि भ्रान्ति-श्रान्ति, निकन्द करत स्वलक्ष्य में ॥४१७॥
जय कृपा कन्द ! निकन्द अघ दल, प्रवल काल विभंजनम् ।
शान्ति-कान्ति स्व दान्ति समिता, मोद दायक सज्जनम् ॥
दहन गहन विमोह मत्सर, मद्य दर्प प्रभंजनम् ।
कश्मल् प्रमाद प्रलोभ क्षोभ, अबोध अहं निकन्दनम् ॥४१८॥
विद्या अविद्या [१]उभय माया, जाल विरचित् काल की ।
जाके विवस सकलो सुरा सुर, दशा विकट विहाल की ॥
सहज करूणा आप की, करती परीक्षा ख्याल की ।
करवा परीक्षा सज्जनों को, व्याधि हरती काल की ॥४१९॥
हे दीन वत्सल ! पतित-पावन !, महा महिमा आप की ।
को कहि सके समर्थ को ?, सीमा न माप अमाप की ॥
प्रतिलोम-रसना अमित हों, तब सुयश कहि सकतां नहीं ।
हारें विशारद शेष जिनकी, शक्ति की गति-पति नहीं ॥४२०॥
अत्यन्त दीन मलीन मैं, मति हीन क्या मम लेख है ? ।
त्रय लोक-पावन करन तव यश, ज्ञान गम्य अलेख हैं ॥
त्राहि ! त्राहि ! विमोक्ष प्रद, रक्षा करिय मैं दीन की ।
ये विनय जन धर्म्मदास की, प्रभु क्षमिय चूक मलीन की ॥४२१॥

---

१ समैः—भयो अबूझ बूझे नहीं, जामे करे न विचार ।
कहैं कबीर पढ २ भले, जेता यह संसार ॥ १ ॥
(ज्ञान दीपक स० १६)

२०—चार वेद ब्रह्मै निजठाना । मुक्ति का मर्म उनहुँ नहिं जाना ॥ (बीजक)

इमि विविधि-विधि करि स्तुति, धर्म्म सष्टांग पद-पंकज परे।
सद्गुरु कविर पद रेणु का, दृग शीश उरकण्ठे धरे॥
पावन चरित धर्म्मदास जी के, समझि जे हृदय धरें।
ते होहिं तारण-तरण नहिं, पुनि-भ्रान्ति-भव-दधि में परें॥४२२॥

उपसंहार

हे मित्र सहज सुजान मन !, धर्म्मदास गुरु पद रेणु का।
धारण करो निज शीश पर, है मोक्ष प्रद सुर धेनु का॥
धर्म्मदास पदानु शरण जे जन, कर्म मन वच ध्यावहीं।
ते विमोक्ष प्रत्यक्ष हो बहु, जीव मोक्ष बनावहीं॥४२३॥
सुज्ञ मन ! मम वचन मानो, सुनो युग श्रुति जोर के।
धर्म्मदास गुरु के चरण परि के, विनय करो निहोर के॥
हे नाथ ! तारण-तरण मुझको, शरण में रख लीजिये।
अपराध जान अजान को, सो क्षमा समर्थ कीजिये॥४२४॥
दारुण अविद्या-विषय हनि, निज शील अविचल दीजिये।
धारणा शौच होइ दृढ़, दुर्वासना हरि लीजिये॥
जिस वासना के हेतु पूरण ब्रह्म, जिव हो भव परे।
निवृत्ति हो त्रिय[1] वासना, शुद्धात्मा हो [2]भव तरे॥४२५॥

---

१ श्लोक—लोक वासनय जन्तोः शास्त्र वासन यापि च।
देह वासनया ज्ञानं यथवन्नैव जायते ॥ १ ॥

टीका—लोक वासना और शास्त्र वासना, देह वासना इन तीनों वासनाओं के रहने से मनुष्यों को यथावत् ज्ञान नहीं होता ॥ १ ॥

२ श्लोक—संसारकारगृह मोक्ष मिच्छोरयी मयं पाद निवन्धन शृंखलम्। वदन्ति तज्ज्ञाः पटुवासना त्रयं योऽस्माद्विमुक्तः समुपैति मुक्तिम् ॥२॥
(विवेक चू० २७२)

टीका—संसाररूप कारागार से मोक्ष होने की इच्छा करते हुए मनुष्यों को पैर बांधने के निमित्त लोक वासना, शास्त्रवासना, देहवासना

तैल धारा वत् अखण्डित, भजन भक्ती में लगूं ।
सन्त गुरु सेवन सदा ही, प्रेम-रस ही में पगूं ॥
ध्यावों सदा सद्गुरु चरण, नित मोह रात्री में जगूं ।
हो मनुजता की सफलता, कर्तव्य-पालन में लगूं ॥४२६॥
अधिक कहना व्यर्थ है, अधिकारि उत्तम के लिये ।
संकेत ज्ञाता होहिं सो, शुभ धारणा धारैं हिये ॥
अधिकारि मध्यम के लिये, सब वेद शास्त्र पुराण हैं ।
तथा लघु अधिकारि को, सब व्यर्थ ज्ञान रु ध्यान हैं ॥४२७॥
हे तात मन ! उत्तम बनों, प्रवृत्ति मार्ग विसार दो ।
निवृत्ति पथ गमनो सदा, सब कालिमा निर्वार दो ॥
सद्गुरु पदाम्बुज भृङ्ग हो, सत् घ्राण का घ्रायक बनो ।
सानन्द युत विचरो सदा, निश्चिन्त दुःख दारुण हनो ॥४२८॥

दो०— जिन पद-पंकज के नमे, सब-पद वन्दन होय ।
मन कर्म वाणी से सदा, सद्गुरु-पद नमो दोय ॥११९॥
ज्यों जननी की पुष्टि से, गर्भ को अर्भक पुष्ट ।
त्यों "सद्गुरु" पद ध्यावते, सकल सुरा सुर तुष्ट ॥१२०॥
आपहिं काल दयाल हो, वर्तत् "चेतन" एक ।
विवस कामना काल है, है दयाल सविवेक ॥१२१॥

ह० छंः—जे पढ़हिं सुनहिं विचार युत्, दृढ़ पूत उर धारण धरैं ।
स्वाधीन काल कराल करि, श्रम हीन भव-सागर तरैं ॥
बन्ध-मोक्ष प्रदानि मन, श्रुति सन्त कोविद कवि कहैं ।
शुद्ध मानश के भए, विग्रह न कछु विग्रह रहैं ॥४२९॥
साधु-गुरु पद त्राण तजि, मैं अपर नहिं विद्या पढ़ी ।
कविता कला जानी नहीं, क्योंकि ? अविद्या ही बढ़ी ॥

ये तीनों वासना लोहे का प्रवल श्रृंखला से जो मनुष्य मुक्त होता है वही मोक्ष भागी होता है ॥ २ ॥ (विवेक चूड़ामणिः २७३)

गण मर्म कछु जानों नहीं, न शुभ अशुभ का ज्ञान है।
तद्यपि न तृष्णा त्यागती, हृदये महा अभिमान है॥४३०॥
धर्म्म कर्म्म कि धारणा, विद्या बिना को करि सके?।
मल विक्षेप आवर्ण को, विनु धारणा को हर सके?॥
इससे मेरी अज्ञानता, क्षमि ये सुसज्जन बुध जनों।
विद्या अविद्या युग कला, माया कि जड़ता-तम हनों॥४३१॥
करिये कृपा शिशु जानिके, शिशुता समझ हाँसी सहो।
दीन-पीन-मलीनता मम, समझि उर क्षमिता गहो॥
अपर शिव बन्धन सरिस, मति मन्द नहिं संसार में।
तद्यपि-पड़े तव शरण में, रक्षण करिय भव-धार में॥४३२॥
हे सद्गुरू ! हे पतित-पावन !, विरद आपन पालिये।
त्राहि-त्राहि पुकार मेरी, कालिमा सब घालिये॥
दीन-वत्सल ! विश्व रक्षक, विश्व-पाल कृपाल हैं।
शान्त शुद्ध स्वरूप प्रद, करते निकन्दन काल हैं॥४३३॥

दो:—शिव बन्धन सहकामि की, विनय मानिये नाथ !।
पाहि-पाहि आरति हरण, ग्रहण करिय दृढ़ हाथ॥१२२॥
जिनके कृपा कटाक्ष से, दर्शय शुद्ध स्वरूप।
वन्दनीय तिहुँलोक के, "सद्गुरु" पूज्य अनूप॥१२३॥
नौमी सज्जन वृन्द को, क्षमिये मम अपराध।
सुयश महात्म को कहै ?, पावन-अगम अगाध॥१२४॥
मन वुधि चित् नहिं जा सके, सन्त प्रभाव अपार।
अनुभव गम्य अनूप है, निर्णित् शुद्धाचार॥१२५॥
उरग रसज्ञा व्योम युत, त्रय दश सम्बत् माहि।
कार्त्तिक शुक्ला सप्तमी, ग्रंथ समापति आहि॥१२६॥

॥ इति श्री सिद्धान्त-सारामृत समाप्त ॥

षड् दर्शन

श्लोक—न्याय, वेदान्त, मीमासातर्कः पाताञ्जलिस्तथा ।
संख्यसूत्रेति शास्त्राणि षड्दर्शनमित्युच्यते ॥ १ ॥

अर्थः—न्याय, वेदान्त, मिमासा, वैशेषिक, पातांजलि, और सांख्य ऐसे जो सूत्ररूप शास्त्र हैं इन्हीं को षड्दर्शन कहते हैं ॥ या—

श्लोक—कपालिकं च जैन्यं च जंगमं ब्राह्मणं तथा ।
सन्यासी च तथा सोपि षड्दर्शन मिति स्मृतं ॥ २ ॥

टीका—योगी, जैनी, जंगम, ब्राह्मण, संन्यासी और दर्वेश, ये भीषड्-दर्शन कहे जाते हैं ॥ २ ॥ अथवा—

श्लोक—शैवाः शक्तास्तथा सौरा गाण पत्यास्तथैव च ।
वैष्णवाश्चापि जैनं च दर्शनानि षड् वहि ॥ ३ ॥

अर्थ—शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, तथा वैष्णव और जैन, ये भी षड्दर्शन हैं ॥ ३ ॥

श्रीकवीर पंथ के धार्मिक सामान्य एकादशनियम ॥

१—अनादि, अनूप, अजर, अमर, अभय, सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्मल, निर्विकार, निराकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जो महाप्रभु परमात्मा सत्यपुरुष हैं, उनके अतिरिक्त और किसी देवी, देवता की उपासना न करनी चाहिये ॥

२—आचार्य्य, गुरु और महात्मा, ये तीनों उस परमात्मा सत्पुरुष की साकारमूर्ति हैं, इन्हीं की तन. मन, धन से सेवा सत्कार द्वारा उस निराकार महाप्रभु की उपासना करनी योग्य है ॥

३—गुरु के वचन और अपने धर्म्म ग्रन्थ में अटल और पूर्ण श्रद्धा रखकर उनकी शिक्षा के अनुसार चलना चाहिए ॥

४—सम्पूर्ण संसार के प्राणी मात्र को अपनी आत्मा जान कर दया भाव से हृदय में सब का हितचिन्तन करना चाहिए ॥

५—निर्भयपूर्वक अन्तःकरण में सदा शुभसंकल्प और सदाचार का सेवन करना चाहिए । जिससे शरीर, मन और आत्मा पवित्र होकर बलिष्ठ हो जायँ ॥

६—काम, क्रोध, मोह, लोभ, दम्भ, अहंकार, मांस, मदिरा, चोरी, हिंसा, द्यूत (जूवा) मिथ्या-भाषण और पिशुनता (चुगुली) इत्यादि महादोषों को सर्वथा त्यागना चाहिए ॥

७—परीक्षापूर्वक सत्य को धारण और असत्य को परित्याग करने में कदापि विलम्ब न करना चाहिए ॥

८—विनय भाव से अत्यन्त प्रेमपूर्वक मनुष्य मात्र को सन्मार्ग में चलने का सदा उपदेश देना चाहिए ॥

९—सर्वदा नियमपूर्वक स्वाध्याय द्वारा विद्या-वृद्धि करने मे कदापि आलस न करना चाहिए ॥

१०—तिलक, कण्ठीसहित, अपना वेष सभ्य और पवित्र रखना चाहिए ॥

११—स्वधर्म तथा अपनी आत्मा के विपरीत कभी कोई काम न करना चाहिए ॥ इति ॥

❁ सत्यनाम ❁

सदुपदेश-मणिमाला

(श्रीयुत महन्त श्री शम्भूदास जी साहब इन्दौर कृत)

दो०—वन्दों सत्यकवीर के, चरण कमल शिर नाय । जासु ज्ञान दिन-कर निकर, भ्रम तम देत नशाय ॥ १ ॥ सुर दुर्लभ तन पायके, करु कुछ हृदय विचार । इह असार संसार में, कौन वात है सार ॥ २ ॥ होनहार सो होत है, जो कुछ है भवितव्य । तदपि विबुद नहिं तजत हैं, अपनो निज करतब्य ॥ ३ ॥ कहत सकल मत पन्थ हैं, इक स्वरसे यह वात । सत्यज्ञान श्रद्धा विना, कवहुँ न हृदय समात ॥ ४ ॥ श्रद्धायुत नर नारि जो, सतगुरु शरणे आय । गहे सत्य उपदेश उर, ताको क्लेश नशाय ॥ ५ ॥ जन्म मरण भवफन्द से, करै छुड़ाय सुछन्द । ताको सतगुरु जानिये, और सकल ठग वृन्द ॥ ६ ॥ ठगैं द्रव्य जो शिष्य को, ऐसे गुरु अनेक । मुक्त करै भवफन्द से, विरले कोई एक ॥ ७ ॥ सतगुरु के उपदेश है, अतिशय सुख की खानि । वेदमंत्र सम जानिके, लेह हृदय में मानि ॥ ८ ॥ सतगुरु के उपदेश विन, होत न कवहूं ज्ञान । कहा होत बिन ज्ञान के, पूजे

काठ पषान ॥ ६ ॥ भ्रम में अटके भक्त सब, पटके सिर दिन रात। बागल लटके डार ज्यों, सुनि उलूक की बात ॥ १० ॥ राम नाम से मुक्ति सुनि, तजि सत असत विचार। गहि अन्धे की लाकड़ी, बूड़ि मरे भव-धार ॥ ११ ॥ जपत राम निशदिन वृथा, जन्म देत नर खोय। कोटि बार जल जल कहे, तृषा शान्त नहिं होय ॥ १२ ॥ यज्ञ किये व्रत तप किये, किये कर्म निष्काम। मुक्ति कहत कोइ भक्ति से, लिये राम को नाम ॥ १३ ॥ बलिहारी गुरुदेव की, खटपट सकल छुड़ाय। निज घट भीतर आतमा, परगट दियो लखाय ॥ १४ ॥ सत्य कहूँ नहिं सत्य सम, और जगत में मित्र। प्रथम हृदय धारण करो, यह व्रत परम पवित्र ॥ १५ ॥ धर्म न कोई सत्य सम, देखो दृष्टि पसार। सकल क्रिया है सृष्टि की, सत्यहि के आधार ॥ १६ ॥ हारत निश्चय से वही, जाको मिथ्या पक्ष। होत सदा जय सत्य की, है यह बात प्रतक्ष ॥ १७ ॥ सत्य वचन से अधिक नहिं, अन्य धर्म को कर्म। मिथ्या भाषण सम नहीं, जग में और अधर्म ॥ १८ ॥ लघु गुरु प्राणी मात्र पर, रहै सदा अनुकूल। दयाभाव उर राखिये, यही धर्म को मूल ॥ १९ ॥ दुखदाई कुत्सित क्रिया, अघ जग निन्दित कर्म। सब विधि सुखदायक सुकृत, ताहि कहत मुनि धर्म ॥ २० ॥ पाप न पर दुख देन से, अधिक और कुछ जान। पुण्य न पर उपकार सम, बरणत वेद पुरान ॥ २१ ॥ सुख के साथी हैं सबे, लोग कुटुम परिवार। दुख में साथी होत इक, धर्माधर्म विचार ॥ २२ ॥ मृतक देह को जारिके, परम मित्र सुत भ्रात। लौटि घरै आवत सबै, धर्म साथ इक जात ॥ २३ ॥ पुण्य पाप से मिलत हैं, सुख दुख सबको आय। भोग न छूटै कर्म्म के; कीन्हें कोटि उपाय ॥ २४ ॥ देनहार या जगत में, सुख दुख को नहिं कोय। कर्मन के अनुसारही, भलो बुरो सब होय ॥ २५ ॥ जो हित चाहे आपनो, तजि सब अन्य विकल्प। श्रद्धायुत निश दिन करै, मन में शुभ सङ्कल्प ॥ २६ ॥ विद्या विनय विवेकता, शम दम समता भाव। दया क्षमा सन्तोष उर, धारै शील स्वभाव ॥ २७ ॥ काम क्रोध मद दम्भ छल, लोभ मोह अभिमान। हिंसा निन्दा ईरषा, तजै दोष मतिमान ॥ २८ ॥ मन

माने बोले सदा, अति दुखदाई बोल। राह चलत सबसे बृथा, लेत शत्रुता मोल ॥ २९ ॥ बोले वचन विचार युत, अति हित मधुर-रसाल। मंत्र मोहनी है यही, फलदायक ततकाल ॥ ३० ॥ शुभ विद्या सद्गुण करम, धारै तजै विकार। नीच ऊंच नारी पुरुष, है सबको अधिकार ॥ ३१ ॥ नारि पुरुष जाघर उभय, सद्गुण युत विद्वान। ता घर में सब सुख बसत, सुरपरि लोक समान ॥ ३२ ॥ जाके घर में नारि है, मूरख विद्याहीन। ताके घर नित उठि कलह, होत नवीन नवीन ॥ ३३ ॥ विद्यायुत नर नारि को, गर्व रहित प्रिय बोल। औरो भूषण तुच्छ सब, यह भूषण अनमोल ॥ ३४ ॥ वस्त्र अन्न जल से करै, सन्तन को सतकार। जन्म पाय जग में यही, नर देही को सार ॥ ३५ ॥ मधुर वचन तन में सहन, मन विक्षेप न जाहि। तन मन वाणी साधहीं, साधू कहिये ताहि ॥ ३६ ॥ यथा लाभ सन्तोष मन, तजि धन की चित चाह। न्याय सहित साधू चलैं, जग में सूधि राह ॥ ३७ ॥ पर धन पत्थर धूरि जिमि, पर तिय मात समान। सब प्राणी निज आतमा, जानत सन्त सुजान ॥ ३८ ॥ पर धन पर तिय अरु असत, तीन बात को त्याग। यह सांचो व्रत जानिये, और बृथा खटराग ॥ ३९ ॥ क्षुधा तृषा शीतोष्णता, मान और अपमान। सुख दुःख आदिक द्वन्द्व को, सहन परम तप जान ॥ ४० ॥ काह भयो वन में गये, मन से गयो न राग। त्याग वासना को किये, घरहीं में वैराग ॥ ४१ ॥ छाप तिलक माला जटा, लुञ्चित मुण्डित केश। दण्ड कमण्डल आदि सब, उदर भरण के वेश ॥ ४२ ॥ मिटै न मन की कल्पना, भस्म रमाये गात। काह होत है धूरि में, खर लोटत दिन रात ॥ ४३ ॥ कोटि बार अविचार से, जाय नहाये गंग। मन पवित्र नहिं होत है, विना साधु सतसंग ॥ ४४ ॥ तन पवित्र तीरथ गये, धन पवित्र करि दान। मन पवित्र तब होत जब, उदय होय उर ज्ञान ॥ ४५ ॥ तन मन धन की शुद्धि का, इह इक यत्न विचित्र। सतगुरु को अर्पण किये, तीनों होत पवित्र ॥ ४६ ॥ जप तप व्रत यम नियम से, और पाप कटि जात। पर मनके अज्ञान नहिं, विन सतसंग नशात ॥ ४७ ॥ नीचहु पावत ऊंच पद, तजि निज दुष्ट स्वभाव। पूज्य होत है जगत में, नर सतसंग

प्रभाव ॥ ४८ ॥ इन्द्रलोक सुरलोक पुनि, विष्णुलोक के भोग । इनको मिलनो सुलभ है, दुर्लभ सन्त सुयोग ॥ ४९ ॥ ग्रन्थ पन्थ वहु भांति के, प्रचलित हैं जग मांहिं । वृथा सकल सत असत के, जहँ विचार कछु नाहिं ॥ ५ ॥ जामें सत उपदेश है, यथा शास्त्र परमान । भव वन्धन से मुक्ति को, सत्य पन्थ वह जान ॥ ५१ ॥ ध्येय पदारथ एक है, ज्ञेय कहत तिहिं वेद । विना यथारथ ज्ञान के, प्रकट भये मत भेद ॥ ५२ ॥ जासे होवे धर्म का, हृदय उदय विज्ञान । ताहि वेद सव कहत हैं, मुनिवर बुद्धि निधान ॥ ५३ ॥ विन गुरुमुख कोइ वेद को, जानि सकत नहिं सार । चकित होत मति देखि के, यज्ञादिक व्यापार ॥ ५४ ॥ अग्निहोत्र तर्पण क्रिया, जप संध्या त्रैकाल । और अनेक उपासना, ये सव वैदिक जाल ॥ ५५ ॥ लालच भय दै करत ज्यों, कर्णवेद मतिमान । त्यों त्रिकाण्ड ये वेद के, ऋषिकृत कहत सुजान ॥ ५६ ॥ चार वेद षट शास्त्र पढ़ि, जान्यो अर्थ न गूढ़ । सतगुरु के उपदेश विन, रह्यो मूढ़ के मूढ़ ॥ ५७ ॥ पढ़े लिखे वहु का भयो, जो न गयो अज्ञान । ज्ञान विना शुक ज्यों करत, रहत राम गुण गान ॥ ५८ ॥ कुल पशु गुरु पशु वेद पशु, लोग पशु ये चार । विन विचार जग में चले, परम्परा अनुसार ॥ ५९ ॥ पशु अवोध नर वोधयुत, पढ़त विचारत वेद । पशु मनुष्य के वीच में, इतनो ही है भेद ॥ ६० ॥ सत्यज्ञान उपदेशमय, ग्रन्थ आप्तकृत सर्व । सो सव जानहु वेद जिमि, ऋग् यजु साम अथर्व ॥६१॥ विना परीक्षा वेद किहुँ, लेहु न शिक्षा मान । भव निधि तारक मंत्र यह, दीक्षा गुरु की जान ॥ ६२ ॥ मुक्ति हेतु सवहिन रचे, निज निज मत के ग्रन्थ । अति टेढ़े तिन में कई, कोइ इक सूधो पन्थ ॥ ६३ ॥ फूले फूले मति फिरो, भूले माया जाल । परि कुपन्थ में जात नर, अन्तकाल के गाल ॥६४॥ न्यायान्याय विचार को, पन्थ त्यागि जो कोय । मनमाने मारग चले, ताहि सदा दुख होय ॥ ६५ ॥ धन यौवन दिन चारि को, पाय करत अभिमान । निज हित के उपदेश में, तनक देत नहिं ध्यान ॥६६॥ निज आतम कल्यान को, उर विचार नहिं रञ्च । करत वृथा है वावरो, निशदिन छल परपञ्च ॥ ६७ ॥ विषय वासना से क्षुधित, मन कवहूं न अघाय । वाढ़त ज्वाला

अग्नि की, अधिक २ घृत पाय ॥ ६८ ॥ विषय भोग से रोग सब, प्रगट होत तन बीच । तदपि न चाहे त्यागिवो, ऐसो है मन नीच ॥ ६९ ॥ शब्दादिक पांचो विषय, विष सम यदपि अशेष । तदपि हलाहल है प्रवलं, इक व्यभिचार विशेष ॥ ७० ॥ जाको तृष्णा अधिक है, ताहि दरिद्री जान । रहे सदा सन्तोष युत, सो महान धनवान ॥ ७१ ॥ कथनी गहनि रहनि नहीं, होय एक सम जास । आश न कीजे तासु की, त्यागि सकल विश्वास ॥ ७२ ॥ मन वाणी अरु कर्म है, जिनको एक समान । ऐसे साधू जगत में, विरले कोई जान ॥ ७३ ॥ सज्जन जन के हृदय में, यह गुण परम विचित्र । तजि सव अवगुण शत्रु को, जानत हैं निज मित्र ॥ ७४ ॥ शत्रु सकल गुण त्यागि के, अवगुण करत वखान । तासे ताकी वात को, सुजन सुनत धरि ध्यान ॥ ७५ ॥ सुनि निज अवगुण शत्रु से, मानि परम उपकार । त्याग करन को हृदय में, सज्जन करत विचार ॥ ७६ ॥ शत्रु मित्र सव एक सम, साधु हृदय में जानि । सत उपदेश सुनावहीं, विविध-प्रकार बखानि ॥७७॥ यह मेरो मेरो न यह, यह संकुचित विचार । तजि उदार संसार को, जानत निज परिवार ॥ ७८ ॥ गुरु से अधिक उदार हैं, और कौन जग माहिं । जिनको प्राणीमात्र से, भेदभाव उर नाहिं ॥ ७९ ॥ देखि अविद्या से दुखी, भ्रमत जीव भवधार । करुणाकरि करुणानिधी, वरण्यो सार-विचार ॥ ८० ॥ जड़ चेतन दो वस्तु है, अति प्रसिद्ध जग माहिं । इनकी पारख प्राप्ति बिन, बन्धन छूटत नाहिं ॥ ८१ ॥ जड तम-पुंज प्रसुप्त-सम, अप्रवोध दुख रूप । चेतन परमानन्द-घन, ज्ञान स्वरूप अनूप ॥ ८१ ॥ सूर्य चन्द्र तारागिन सव, होत प्रकाशित भास । जाकी सत्ता से वही, चेतन स्वयं-प्रकाश ॥ ८३ ॥ पंच तत्व गुणमय जगत, जाको है परिणाम । प्रकृति प्रधान स्वभाव जड़, माया ताको नाम ॥ ८४ ॥ सत्य एक चैतन्य है, असत सकल जड़-जन्य । भयो उभय से जगत यह, नहिं कोइ करता अन्य ॥ ८५ ॥ माया के संयोग से, चेतन पाय विकार । जीव ब्रह्म परमातमा, भयो अनेक प्रकार ॥ ८६ ॥ मायायुत जगदीश के, है वहु नाम विशेष । रज सत तम गुण भेद से, ब्रह्मा विष्णु महेश ॥ ८७ ॥ शंकर-मत में है कह्यो, नहिं कछु वस्तु अनेक ।

निर्विकार खलु ब्रह्म सब, प्रलय अम्बुवत एक ॥८८॥ जो विकार कछु ब्रह्म में, है न हुआ नहिं होय। तौ किहिं कारण वेद गुरु, प्रगटै कहिये सोय ॥ ८९ ॥ विना परीक्षा होत नहिं, कबहु यथारथ ज्ञान। स्वाद लिये विन लखि परत, खारी खांड़ समान ॥ ९० ॥ विबुध कहत विद्या द्विविध, अपरा परा प्रधान। वेद आदि अपरा, परा, अध्यातम का ज्ञान ॥ ९१ ॥ लौकिक परलौकिक उभय, सुख अपरा से होय। पर विन परा न मुक्ति पद, पाय सकै नर कोय ॥ ९२ ॥ अपरा में वहु भांति के, धर्म्म कर्म्म के फन्द। होत परा के ज्ञान से, आतम परम सुछन्द ॥ ९३ ॥ सांगवेद उपवेद सब, विद्या अपरा जान। परा परीक्षा ज्ञान है, लक्षण सहित प्रमान ॥ ९४ ॥ वास्तव में यह हेम है, अथवा ऊपर झोल। विना परीक्षा को किये, कबहु न लीजे मोल ॥ ९५ ॥ पराज्ञान अनमोल धन, घट में पाय छिपाव। गुप्त खजाना जानि के, ताला मौन लगाव ॥ ९६ ॥ कुंजरन को वैपार जहँ, तहँ हीरा मति खोल। वेंचनवाले शांक को, क्या जानेंगे मोल ॥ ९७ ॥ करत सकल व्यवहार जो, गुरु आज्ञा अनुसार। पराज्ञान लहि सहज वह, होत भवार्णव पार ॥ ९८ ॥ गुरुमुख तजि मनमुख रहे, पराज्ञान को पाय। सो प्राणी संसार में, नष्ट भ्रष्ट हो जाय ॥ ९९ ॥ जन्म मरण भवरोग के, है कारण अज्ञान। गुरू वैद्य औषधि करे, जाने विना निदान ॥ १०० ॥ सांग पढ़े ऋग साम यजु, और अथर्वण वेद। मुक्ति प्राप्त नहिं होत विन, पाये गुरुमुख भेद ॥ १०१ ॥ कितहुँ मुक्ति को धाम नहिं, जहाँ वसत कोइ ग्राम। भ्रम वन्धन से छूटिवो, मुक्ति याहि को नाम ॥ १०२ ॥ मुये मुक्ति गुरु स्वारथी, होत कहत सब कोय। जियत मुक्ति जो ना भई, मुये मुक्ति क्या होय ॥१०३॥ मुक्त भये जो जगत से, ज्ञानी भक्त अशेष। लौटि कह्यो को आयके, तिनको कुशल संदेश ॥ १०४ ॥ करु विचार किंचित हृदय, ज्ञान-दृष्टि दै लक्ष। हैं सतगुरु इह जगत में, जीवन मुक्त प्रतक्ष ॥ १०५ ॥ मुक्त पुरुष के होत हैं, कर्म्म मूल से लुप्त। संचित अरु क्रियमान दोउ, पाय ज्ञान यह गुप्त ॥ १०६ ॥ किन्तु मुक्तहूँ को रहत, केवल इतनो रोग। जगको देखनमात्र के, प्रारंब्धिक इक भोग ॥ १०७ ॥ धन्य धन्य गुरुदेव हैं, जग में

सर्वोत्कृष्ट । जिनकी कृपा-कटाक्ष से, नष्ट भयो भ्रम कष्ट ॥ १०८ ॥ तन मन धन से कीजिये, सतगुरु को सनमान । नहिं उपकार बिसारिये, घट में जब लग प्रान ॥ १०९ ॥

इति श्री १००८ महंत शम्भुदास साहब इन्दौर विरचित

सदुपदेश-मणिमाला समाप्तम् ॥

तिलक १२

दो०—उर्ध्व पुण्ड्र मस्तक प्रथम, ब्रह्मरंध्र पुनि जोय ।
त्रितिय नेत्र दोउ कण्ठ पुनि, उर नाभी फिर होय ॥ १ ॥
उर दुहु दिशि भुज दोउ पुनि, तथा पृष्ठ प्रमान ।
वरन वैष्णव के यही, द्वादश तिलक बखान ॥ २ ॥

इस "सिद्धान्त-सारामृत" ग्रन्थ के मुद्रित कराने में आर्थिक सहायक सज्जनवृन्दों को शुभ "धन्यवाद" तथा उनकी नामावलि ॥

ह० छं०—धन्यवाद अनन्त सुकृत, सन्त सेवित् भक्त को ।
जिनकी शुभेच्छा धारणा, उपकारिता है जक्त को ॥
विविध-विधि श्रम से सदा, करि-पात श्रम-कण रक्त को ।
करिके उपार्जन द्रव्य करते, व्यय धर्मनुरक्त को ॥ १ ॥

१००) श्रीमती अन्नपूर्णा दासी जी, बहुबजार, कलकत्ता
६५) श्रीमान् नथई भक्त जी,
६०) श्रीमती रजनादासी जी (मु० सोहदबल पो० पौनी जि० मिर्जापुर,
५०) साधु श्रीदीपन दासजी मु. शाहपूर पो. किरिहिरी जि. आरा
१०) श्री काशीप्रसाद जी मु० बैनी,
१०) श्री भगवान भक्त जी मु० सोहदवल

५) श्री जयरामभक्त जी, सोहदवल
५) श्रीमती वचानी दासी जी, सोहदवल
५) श्री हिच्छाराम जी, सोहदवल
५) श्री वारुणभक्त जी, वैनी, पो० पवनी, जि० मिर्जा पुर०

तथा सर्व सहायकः सज्जनों को शुभ धन्यवाद ! "सद्गुरु देव" उन लोगों को शुद्ध शान्तात्मा बनाने की कृपा प्रदान करें, भवबन्ध से विमुक्त करें ॥"

इति शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥

हिन्दी-सर्वोपयोगी आध्यात्मिक अनुपलब्धि पुस्तकें ।

सद्गुरु-स्तोत्रावली १) शान्ति-सरोजांजलि १॥)
मोक्ष प्रवेशिका १)

पुस्तक मिलने का पता

१. कबीर धर्म्म स्थान खरसिया,
पो० खरसिया, जि० बिलासपुर,

२. श्री कबीर मन्दिर 'तेलारी'
पो० तेलारी, जि० आरा, (बिहार)

हे प्रबुद्ध! विशुद्ध! सद्गुरु! दीनरक्षक सर्वदा।
सर्वध्येय अनूप रुप, अखण्ड पालक मर्यदा॥
हे अनन्त! त्रिलोक कन्त!, अनन्त यश-श्रुति सर्वदा।
आप ही सब लोक में, सब काल केवल धर्म्मदा॥ ३॥
दो०—युग सहस्र दश शुक्र-मुख, वत्सर विक्रम माहिं।
मार्ग शीर्ष सितनौमिको, पुस्तक मुद्रित आहिं॥ १॥